Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रधान–सम्पादक
यशदेव शल्य
मुकुंद लाठ

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

वर्ष 28, अंक 2
दिसम्बर 2014

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies, AAIS(USA)
वर्ष 28, अंक 2 दिसम्बर, 2014

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

प्रधान-सम्पादक

यशदेव शल्य

मुकुन्द लाठ

सम्पादक

अम्बिकादत्त शर्मा

प्रदीप कुमार खरे

दर्शन प्रतिष्ठान

जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

परामर्शदाता

1. रामजी सिंह, 104, सन्याल इन्क्लेव, बुद्धमार्ग, पटना–800001
2. अशोक वाजपेयी, सी–60, अनुपम को–ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली–110096
3. रमेशचन्द्र शाह, एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल–462003
4. अशोक वोहरा, 21/4, कैवेलरी लाइन, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली–110007

प्रधान-सम्पादक

1. यशदेव शल्य, पी–51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015, दूरभाष 2707493
2. मुकुन्द लाठ, ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर–302006 दूरभाष 2294727/2293725

सम्पादक

1. अम्बिकादत्त शर्मा, सी.–37, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर–470003 दूरभाष 07582–264587 मो. 09406519498
2. प्रदीप कुमार खरे, आर.बी. 72, इण्डस गार्डन, गुलमोहर, भोपाल–462039, दूरभाष 0755–2427461, मो. 09425029308

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Refereed Journal)

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 50/–
संस्थाएं : रु. 100/–

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 1000/–
संस्थाएं : रु. 5000/–

आजीवन/वार्षिक सदस्यता हेतु राशि "प्रधान–सम्पादक – उन्मीलन" के पक्ष में बैंक ड्राफ्ट (सागर, म.प्र. पर देय) निम्न पते पर भेजें – अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर–470003 (म.प्र.)

यशदेव शल्य, मुकुंद लाठ एवं अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी–51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए प्रकाशित।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अनुक्रमणिका

1. भारतीयता का नवसर्जन 5
यशदेव शल्य

2. न्यायदर्शन में तर्क-मीमांसा 13
अरूण मिश्र

2. अंतःसाक्ष्य 93
मुकुन्द लाठ

6 पुस्तक–समीक्षा 150
पश्चिमी सार्वभौमिकता और
भारतीयता की आत्मगवेषणा
अम्बिकादत्त शर्मा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	–	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म–संकट	–	मुकुंद लाठ	200.00
3.	कर्म–चेतना के आयाम	–	मुकुंद लाठ	250.00
4.	क्या है? क्या नहीं है?	–	मुकुंद लाठ	150.00
5.	मूल्यतत्त्व–मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	–	यशदेव शल्य	200.00
6.	चिद्विमर्श	–	यशदेव शल्य	175.00
7.	तत्त्व–चिन्तन	–	यशदेव शल्य	200.00
8.	चित् की आत्म–गवेषणा	–	यशदेव शल्य	250.00
9.	काव्य–विमर्श	–	यशदेव शल्य	250.00
10.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–धाराएं	–	यशदेव शल्य भगवती	150.00

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भारतीयता का नवसर्जन

यशदेव शल्य

भारत की राजकीय स्वतन्त्रता के लगभग सातवें दशक में भी आज हम इसकी मानसिक परतन्त्रता को लेकर चिन्तित हैं। 1985 में मैंने इस दार्शनिक पत्रिका 'उन्मीलन' का प्रकाशन–सम्पादन आरम्भ किया था तब उसके मूल में मेरी यही चिन्ता थी। वह चिन्ता आज भी वैसी ही बनी हुई है। उसके कम होने का कोई कारण भी दिखाई नहीं देता। निश्चय ही आज यूरोप भी मानसिक रूप से विघटन की ओर ही अग्रसर है, किन्तु हमारे विचारकों के लिए उसका वह रूप भी अनुकरणीय है, जैसे किसी समय अंग्रेजी कवि लार्ड बायरन की एक टाँग में कुछ दोष होने से लँगड़ा कर चलना वहाँ के युवकों के लिए अनुकरणीय था।

भारतीय सांस्कृतिक परम्परा बहुत प्राचीन है, जिसका मूल वेदकालीन दृष्टि और धारणाओं में माना जाता है। वह परम्परा इस अर्थ में आज भी जीवन्त और अटूट कही जा सकती है कि इसमें कोई क्रम–भंग नहीं है, यद्यपि वैदिक दृष्टि और आज की हमारी दृष्टि में उतना ही साम्य और भेद है जितना वैदिक भाषा और हमारी आज की भाषाओं में है। किसी समाज की सांस्कृतिक परम्परा की निरन्तरता उस समाज के अस्मिता–बोध के नैरन्तर्य और मूल्य–दृष्टि की सृजनात्मकता में कही जा सकती है। भारतीय संस्कृति इसी अर्थ में आज भी जीवित कही जा सकती है। 'यूनानोमिश्र रोमा, सब मिट गए जहाँ से, बाकी मगर है अब तक, नामो निशाँ हमारा' इसी अर्थ में ठीक है। यूनान, मिश्र और रोम आदि देशों के निवासियों की आनुवंशिकता तो हमारी तरह ही अटूट है किन्तु उनकी देहों में अन्य आत्माओं का प्रवेश हो गया है, उनकी अपनी आत्माएँ उन्हें छोड़कर चली गई हैं, जबकि हमारे साथ ऐसा नहीं हुआ है। किन्तु इधर वैसा होने की सम्भावना बनने लगी है।

द्रष्टव्य है कि उल्लिखित कविता मुहम्मद इकबाल की है, जिसका नाम ही उसे इस देश की सांस्कृतिक परम्परा से बाहर रखता है। किन्तु तब भी वह यदि अपने को इस परम्परा में देखता है, जैसाकि इस कविता का 'हमारा' सर्वनाम बताता है कि वह देखता है, तब निश्चय ही वह इस परम्परा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

का हो जाता है। भारत में बहुत सी जातियाँ बाहर से आई और यहाँ की ही हो गई। इसके विपरीत काश्मीर के बहुत बड़े जन–समुदाय को उसका अतीत विस्मृत हो गया और उसने दूसरी परम्परा की स्मृतियों को अपना मान लिया। ऐसा शेष देश के बड़े समुदायों के साथ भी हुआ है। जिसे हम पश्चिमीकरण कहते हैं वह भी यही हमारी देह में अन्य आत्मा के प्रवेश की प्रक्रिया है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि इसमें हानि ही क्या है ? यूनान, मिश्र, रोम, बेबीलोन, ईरान की पहली परम्पराएँ समाप्त हो गई और वे नई संस्कृतियाँ बन गई, इसमें उनकी क्या हानि हुई? ये अब अपनी नई संस्कृतियों की रक्षा के लिए मरने–मारने को तैयार हैं। स्वयं हमारे ही यहाँ अधिकांश लोग अपनी भाषाएँ भूलकर अंग्रेजी अपना रहे हैं और जो ऐसा नहीं कर पा रहे हैं वे अपने को पिछड़ा हुआ समझते हैं। इसमें बुराई क्या है ? इसका उत्तर है कि अपने को खोना, आत्मा का नाश, यह निरपेक्ष रूप से और सबसे बड़ी हानि होती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हमें अन्य से सीखना नहीं चाहिए, अन्य के आदर्श से आत्म–परिष्कार नहीं करना चाहिए! यह कहने पर तो 'बुंद्धं शरणं गच्छामि', 'महाजनो येन गतः सः पंथाः' भी अनुचित हो जाएगा। किन्तु बुद्ध की शरण जाने के वही योग्य होता है जो सदसद् का विवेक कर सकता है, और यह विवेक करने के लिए उसमें संकल्प–बल होना अपेक्षित होता है और संकल्प–बल होने के लिए आत्म–बल होना आवश्यक होता है। बुद्ध की शरण जाने और बुद्ध का अनुकरण करने में आधारभूत अन्तर है। अनुकरण करने के लिए आत्मा और संकल्प की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि इनके नहीं होने की आवश्यकता होती है। यूरोप से साम्मुख्य होने पर भारत में जो प्रथम प्रतिक्रिया हुई थी वह एक आत्मवान् जाति की प्रतिक्रिया ही थी। भारत ने एक नवीन, उदीयमान्, ऊर्जस्वी संस्कृति का सामना होने पर अपने आपको देखा था, आत्म–विवेचन किया था, अपने में जड़ता और तज्जन्य दोषों को पहचाना और अपने को प्रबोधित किया था। आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, ज्योतिबा फुले, श्री अरविन्द, कुमारस्वामी, विवेकानन्द, तिलक और सबसे बढ़कर महात्मा गाँधी इस साम्मुख्य–जन्य आत्म–प्राप्ति के परिणाम थे। भारत की आत्मिक ऊर्जा का वह अद्भुत स्फार था। यही स्फार मुस्लिम आक्रमण के बाद भक्ति–काव्य–धारा के रूप में भी प्रकट हुआ था, किन्तु वह एक सांस्कृतिक चुनौती के साम्मुख्य का रूप नहीं ले सका जो इसने इस नई चुनौती के सम्मुख लिया।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

किन्तु इस साम्मुख्य का यह केवल एक पक्ष ही था। इसका एक दूसरा पक्ष भी था। भारतीय मानस यूरोप के विज्ञान, यन्त्र और बौद्धिक ऊर्जा से चमत्कृत भी हुआ और यथासम्भव उसमें अपने को अभिसंस्कृत करने को भी तत्पर हुआ। राजा राममोहन राय इसके एक उदाहरण हैं तथा श्री अरविन्द और जवाहरलाल नेहरू आदि को जिस प्रकार बचपन में उनके माता–पिता ने भारतीय परिवेश की छूत से अलग रखा, वह इसका दूसरा उदाहरण है। नए कालिजों में पढ़ने–पढ़ाने वाले युवक तथाकथित वैज्ञानिक दृष्टि को सन्देहातीत प्रामाणिक दृष्टि मानकर भारतीय दृष्टि को अन्धविश्वास मानने लगे थे। इसका प्रभाव स्वयं आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज में भी स्पष्ट देखा जा सकता है। नया शिक्षित और अर्धशिक्षित वर्ग इसी दृष्टि में अभिसंस्कृत हो रहा था। यह वर्ग अपनी अस्मिता भारत में देखते हुए भी बुद्धि की श्रेष्ठता पश्चिम में ही देखता था। इस अस्मिता–बोध और आत्महीनता का समन्वय वह प्राचीन भारत में नवीन यूरोप की तुल्यता देखकर करने लगा। आर्यसमाज ने वेदों में यन्त्र–विद्या को देखा और शास्त्रों के अध्येताओं ने भारतीय शास्त्रों में पश्चिम की तुल्यता देखनी आरम्भ की। किन्तु उनके लिए भी शेक्सपीयर कालिदास के और हेगल शंकर के तुल्य होकर बड़े नहीं थे बल्कि कालिदास शेक्सपीयर के और शंकर हेगल के तुल्य होकर बड़े थे। अभी कुछ ही दिन पहले मैंने दर्शन के एक प्रतिष्ठित प्रोफेसर स्वर्गीय डॉ. नन्दकिशोर देवराज का एक लेख देखा। उसमें वे इस बात पर चमत्कृत हैं कि भाषा विषयक बौद्ध के अपोहवाद में बहुत कुछ वैसी ही दृष्टि है जैसी सास्योर नाम के एक नाम–विहीन यूरोपीय के लेख में उन्होंने देखी। उन्हें उस दृष्टि की युक्तता और सम्यक्ता से कुछ लेना–देना नहीं है, उनके लिए तो महत्त्व इस बात का है कि हमारे यहाँ के किसी दार्शनिक को भी वैसी बात सूझी जैसी आधुनिक पश्चिम के किसी लेखक को सूझी। वह लेखक मनीषी तो होगा ही, क्योंकि पश्चिम का है। इसमें भारतीय अस्मिता तो स्पष्ट है किन्तु उतना ही स्पष्ट आत्मसम्मान का अभाव भी है। यहाँ कहा जा सकता है कि यदि कोई हम से श्रेष्ठ है तो उसकी श्रेष्ठता हमें स्वीकार करनी ही चाहिए, उसे अपना आदर्श बनाना चाहिए। यह ठीक है, किन्तु यह एक तो आत्मप्रतिष्ठ होकर किया ज़ाता है और एक आत्म–च्युत होकर। हमारे इस स्वीकार में आत्म–च्युति है। देवराज जी यदि अपना भाषा–विचार करते हुए, या बौद्धों के भाषा–सिद्धान्त का विवेचन करते हुए यह सूचना देते कि सास्यूर के भाषा–विचार में भी इसके जैसी दृष्टि है, तो वह दूसरी बात होती,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वे तो भाषा–विचार के किसी प्रसंग के बिना केवल इस समानता में अतीत भारत का गौरव देख रहे हैं। स्वतन्त्रता के पूर्व दर्शन–विषयक सब लेखक यही करते रहे, वे भारतीय दार्शनिकों में पाश्चात्य दार्शनिकों की अनुरूपता ही खोजते या गढ़ते रहे। दूसरे विषयों में किसी ने भारत को देखा ही नहीं, सीधे पश्चिम को ही अपना लिया। स्वतन्त्रता के बाद दर्शन में भी यही हुआ। ऐसा होने का मुख्य कारण भाषा कही जा सकती है, किन्तु उससे बड़ा और अधिक मूल कारण आत्म–हीनता और बौद्धिक जर्जरता ही कंही जानी चाहिए। यूरोप से प्रथम साम्मुख्य में देश में जो ऊर्जा दिखाई दी थी वह स्वतन्त्रता तक पहुँचते–पहुँचते क्षीण दिखाई देती है। स्वतन्त्रता से पहले स्वतन्त्रता–संग्राम राजनैतिक क्षेत्र में ही नहीं, शिक्षा, साहित्य, विचार सभी क्षेत्रों में दिखाई देता है। उदाहरणतः सरकारी शिक्षा–प्रणाली से पृथक् और उसके विपरीत कितनी ही शिक्षण–संस्थाएँ बनीं और पनपीं, साहित्य पूर्णतः विदेशी प्रभाव से स्वतन्त्र और राष्ट्रीय भावना से भावित रूप में विकसित हुआ। निश्चय ही साहित्य–विचार में कोई सृजनात्मकता दिखाई नहीं देती, किन्तु जहाँ तक वह विश्वविद्यालयों से बाहर रहा वहाँ तक उसने भारत की अतील परम्परा की ओर ही देखा। संगीत तो खैर अभी तक स्वतन्त्र है किन्तु चित्र और मूर्त्ति–कला भी स्वतन्त्र रहीं और इनमें भरपूर सृजनात्मकता भी परिलक्षित होती है। किन्तु स्वतन्त्रता तक पहुँचते–पहुँचते सब क्षेत्रों में, संगीत को छोड़कर एक ह्रास दिखाई देता है जो स्वतन्त्रता के बाद अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। यह भारत की शिक्षण–संस्थाओं में स्पष्ट देखा जा सकता है।

स्वतन्त्रता के बाद ये सभी शिक्षण–संस्थाएँ अपनी आत्मा खो बैठीं, कुछ तो सदेह ही नष्ट हो गईं। यह परिवर्तन हमारे सामान्य परिवर्तन का निदर्श कहा जा सकता है। स्वतन्त्रता के बाद सब विषयों के विद्यार्थी और अध्यापक यूरोप और अमरीका भेजे जाने लगे, अमरीका से मिली गेहूँ का मूल्य अमरीका संस्कृति में दीक्षा के रूप में चुकाया गया। पी.एल. 480 का पैसा तथाकथित ऐसे विनिमय–कार्यक्रम में लगाया गया जिसमें हमारे अध्यापक बाहर सीखने जाते और उनके अध्यापक यहाँ सिखाने आते थे। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के फार्मों में यह पूछा जाता था कि आप विदेशी उपाधिधारी हैं या नहीं, विदेश में आपका कुछ प्रकाशित हुआ है या नहीं और जो विदेश से उपाधि–प्राप्त होते थे उन्हें आँख मूँदकर वरीयता दी जाती थी। मुझे एक उदाहरण पता है कि कैसे एक व्यक्ति इंग्लैण्ड की एक पत्रिका में प्रकाशित एक लेख के बल पर विश्वविद्यालय में लेक्चरर से रीडर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

और रीडर से प्रोफेसर तक हो गया। ऐसा वह किसी जोड़–तोड़ से बना हो, यह बात नहीं थी, वह केवल अपने उस महान लेख के बल पर ही बना था। दर्शन के क्षेत्र में कम से कम 1975–80 तक इन यूरोप–शिक्षितों का बोलबाला ही नहीं, एकछत्र राज्य जैसा था, अन्य शास्त्रों में तो भारत के अपने विचार, अपनी दृष्टि के लिए स्वतन्त्रता के बाद कभी कोई स्थान रहा ही नहीं। दर्शन के क्षेत्र में इस पूरे काल में कुछ लोग विश्वविद्यालय क्षेत्र में भी प्राचीन भारतीय दर्शन से जुड़े रहे, विशेषतः दक्षिण भारत में। स्वतन्त्रता के बाद इनमें कुछ कमी आई, किन्तु इधर इनकी प्रतिष्ठा बढ़ी है और अब तो यूरोपीय दर्शन के वैतालिक भी प्राचीन भारतीय दर्शन से जुड़ना अपनी प्रामाणिकता के लिए आवश्यक मानने लगे हैं। किन्तु दुर्भाग्यवश दर्शन के क्षेत्र में दार्शनिक लगभग एक भी नहीं उभरा है, अन्य क्षेत्रों में तो फिर बात ही क्या है।

स्थिति यह है कि ये लोग ही हमारे दार्शनिक, समाजशास्त्री, राजनीतिशास्त्री आदि समझे जाते हैं। यहाँ एक उद्धरण देना स्थाने होगा जो एक शीर्षस्थ दार्शनिक माने जाने वाले लेखक के निबन्ध–संग्रह की भूमिका लिखते हुए एक दूसरे शीर्षस्थ माने जाने वाले दार्शनिक का लिखा हुआ है। ये दार्शनिक जे.एन. मोहन्ती और जे.एल. मेहता हैं। डॉ. महन्ती लिखते हैं– "1950वें दशक के भारत में जे.एल. मेहता तथा मैं सम्भवतः एकमात्र ऐसे दार्शनिक थे जो समकालीन जर्मन दर्शन से सम्बन्धित थे। डॉ. मेहता हाइडेगर का अध्ययन कर रहे थे और मैं हुस्सर्ल का।" अब, इनसे कोई पूछे कि तब आप दार्शनिक कैसे हुए ? दार्शनिक तो हाइडेगर और हुस्सर्ल ही हुए, आप तो उनके अध्येता और प्रस्तोता ही हुए! किन्तु हमारे देश में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के बाद से ऐसे ही दार्शनिक रह गए हैं– श्री अरविन्द को अपवाद स्वरूप छोड़कर और स्वतन्त्रता के बाद तो इनकी पराधीनता और अधिक बढ़ी है। अवश्य अन्य शास्त्रों से भिन्न, दर्शनशास्त्र में पराश्रयता का एक दूसरा रूप भी है– प्राचीन भारतीय दर्शन पर पराश्रयता का, किन्तु है यह पराश्रयता ही। 1976–77 में 'समकालीन भारतीय दर्शन' नाम के तीन संग्रह अंग्रेजी में प्रकाशित हुए थे जिन पर टिप्पणी करते हुए मैंने लिखा था कि इनके लेखक भारतीय नागरिक तो अवश्य हैं किन्तु भारतीय दार्शनिक कैसे हैं? कोई दर्शन 'भारतीय' तो 'भारत का तत्त्व' उसमें होने से ही होगा। यही बात महात्मा गाँधी ने 1910 में 'हिन्द स्वराज' पुस्तिका में भारतीय बुद्धिजीवियों को सामान्य रूप से लक्षित करते हुए कही थी। उन्होंने इन्हें 'भूरे साहिब' की संज्ञा देते हुए लिखा था कि भारत का शासन गोरे साहिबों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

से भूरे साहिबों के हाथ में आ जाने से भारत स्वतन्त्र नहीं कहलाएगा, क्योंकि वह कोई भारत का स्वकीय तन्त्र नहीं होगा। उसके 38 वर्ष बाद भारत ऐसा ही स्वतन्त्र हुआ। पं. नेहरू ने स्वयं अपने को भारत का अन्तिम अंग्रेजी शासक कहा था, जो सच था। उन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता की उद्घोषणा करते हुए जो भाषण लाल किल से दिया था, जिसमें उन्होंने भारत की भावी नियति की बात की थी, वह अंग्रेजी में दिया गया था जबकि उसी समय के लगभग गाँधी जी को किसी ने अंग्रेजी में पत्र लिखा था तो उन्होंने अपनी प्रार्थना–सभा में उसका उल्लेख पराधीन मानसिकता का द्योतक कहकर किया था। पर हमारी नियति तो यह पराधीनता ही होने जा रही थी। अभी कुछ ही वर्ष पहले भारतीयता की दुहाई देने वाले दल के अध्यक्ष श्री लालकृष्ण अड़वानी ने किसी प्रसंग में बताया कि उन्होंने पिछले दिनों कौन–सी पुस्तकें पढ़ीं, तो वे सब यूरोपीय लेखकों की अंग्रेजी में लिखी पुस्तकें ही थीं। यही दूसरे सबका भी हाल है। यदि हिन्दी के साहित्यिक लेखकों से भी आप पूछें कि वे इन दिनों कौन–सी पुस्तकें पढ़ रहे हैं तो वे जिन पुस्तकों का नाम लेगें उनमें अधिकांश यूरोपीयों के अंग्रेजी अनूदित उपन्यास या उत्तर आधुनिकतावादी यूरोपीय लेखकों की पुस्तकें ही होंगी। यह हमारी मानसिकता का द्योतक है। किन्तु दर्शन या अन्य शास्त्रों में तो आपकी बाध्यता भी है कि आप अपनी भाषाओं की किन्हीं पुस्तकों के नाम बता भी नहीं सकते। इन विषयों में हमारे कोई विचारक हैं ही नहीं। इसका कारण क्या है और इस अवरोध को तोड़ा कैसे जा सकता है?

सम्भवतः किसी जाति में सृजनात्मकता होने या नहीं होने का कारण निश्चित और स्पष्ट रूप से नहीं बताया जा सकता,जैसे व्यक्तियों में नहीं बताया जा सकता। जिस समय कबीर, तुलसी और सूर हमारे यहाँ हुए वह राजनैतिक, सामाजिक रूप में हमारी पराजय और क्षय का युग था, किन्तु इनकी तुलना के व्यक्ति और कवि हमारे यहाँ शताब्दियों पहले और बाद में कहीं दिखाई नहीं देते। उसके बाद अर्थात् अंग्रेजों से पराजय के बाद साहित्यिक, आध्यात्मिक और राजनैतिक क्षेत्रों में रवीन्द्रनाथ, शरच्चन्द्र, सुब्रह्मण्य भारती, प्रसाद, निराला तथा प्रेमचन्द्र आदि एक ओर और रामकृष्ण परमहंस, रमण महर्षि, विवेकानन्द, दयानंद, अरविन्द आदि दूसरी ओर तथा आध्यात्मिकता और राजनीति दोनों को व्याप्त कर उनका अतिक्रमण करते हुए महात्मा गाँधी तीसरी ओर ऐसी सृजनात्मक प्रतिभाएँ इस देश में दृष्टिगोचर होती हैं जिन पर कोई भी जाति गर्व से अपना सिर हिमालय के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

उच्चतम शिखर के भी ऊपर उठा सकती है। धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में और भी बहुत सी सृजनात्मक प्रतिमाएँ आज तक निरन्तर प्रकट होती देखी जा सकती हैं। किन्तु इस जाति ने इस काल में भी किसी शास्त्र में कोई साधारण कोटि का भी सृजनात्मक चिन्तक क्यों उत्पन्न नहीं किया, यह आश्चर्य की बात है। किन्तु स्वतन्त्रता के बाद इसकी सम्भावना भी क्रमशः समाप्त होती जा रही है, जिसका सूत्रपात स्वतन्त्रता के पहले हो गया था। द्रष्टव्य है कि ऊपर हमने जो नाम गिनाए हैं वे सब भारत की मनोभूमि से जुड़े हुए थे। इस मनोभूमि से उन्हें वे सब उर्वरक सहज उपलब्ध थे जो बीज के स्वस्थ होने पर उसके स्वस्थ पल्लवन और भरपूर फलन को सम्भव करते हैं। महात्मा कबीर तो अपढ़ ही थे, किन्तु उनकी कविता का बौद्धिक स्तर बड़े से बड़े शिक्षित के लिए भी स्पृहणीय है। सूर की कविता अपने कलात्मक वैभव में अद्वितीय है जबकि वे भी अपढ़ ही थे। महात्मा गाँधी अपने माहात्म्य को वह सब भुलाकर प्राप्त कर पाए जो शिक्षा ने उन्हें दिया था। इस उर्वरक से हमें राजनैतिक स्वतन्त्रता के बाद की स्वयं अर्जित परतन्त्रता ने वंचित कर दिया है। कठिनाई यह है कि आज इस परिस्थिति से निकल पाने की कोई सम्भावना और उपाय भी दिखाई नहीं देता है। आज हमारी शिक्षा कार्पोरेशनों, होटलों और काल–सेंटरों में आजीविका अर्जन की साधन मात्र के रूप में रह गई है, अन्तर्राष्ट्रीय बाजार के विक्रेता और क्रेता होना, यही हमारे लिए एक पुरुषार्थ रह गया है और यह अब हमारी ही स्थिति नहीं, सारी मानव–जाति ही आज इसमें सहभागी है।

हम यहाँ भारतीयता की बात कर रहे हैं किन्तु हमारे बच्चे अंग्रेजी–माध्यम विद्यालयों में पढ़ रहे हैं। और हमारे पास दूसरा कोई उपाय नहीं है। भारतीयता की दुहाई देने वाली राजस्थान सरकार अपने विद्यालयों को अंग्रेजी–माध्यम–विद्यालय बनाने की तैयारी कर रही है, महाविद्यालयों में अंग्रेजी बोलना सिखाने के उपक्रम हो रहे हैं, "बुद्धं शरणं गच्छामि" पर्यटन–विभाग के विज्ञापन के मन्त्र के रूप में प्रयुक्त हो रहा है, 'योग', 'कृष्ण' और 'राम' तक 'योगा', 'रामा' और 'कृष्णा' हो गए हैं। यह हमारी आज की परिस्थिति है ऐसे में विचार तो क्या, साहित्य और संगीत में भी भारतीयता के लुप्त हो जाने की सम्भावनाएँ बन रही हैं। इस परिस्थिति में हमारे देश से निकलने वाली पत्रिकाओं और उनके सम्पादकों का दायित्व बढ़ जाता है। उन्हें परिस्थिति से लड़ना होगा। परन्तु विडम्बना यह कि सम्पादक भी तो इसी परिस्थिति और परिवेश में रहे हैं। मैंने सम्पादक के रूप

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

में कुछ करना चाहा और 'उन्मीलन' पत्रिका का इसी उद्देश्य से आरम्भ किया था। किन्तु इसके लिए लेखक कहाँ से आएँगे? तब सौभाग्यवश मुकुंद जी मेरे साथ सम्मिलित हुए और बाद में अम्बिकादत्त जी को भारतीय दर्शन के सुलझे और समर्पित विद्वान हैं। हम एक से दो हुए, किन्तु पत्रिका दो से नहीं बनती, तब भी नहीं यदि सम्पादक लेखक भी हो जाएँ। पाश्चात्य दर्शन विषयक लेख हमने अपनी परिधि से बाहर रखे, किन्तु पुराने भारतीय दार्शनिकों के विचारों के विवरण भी कोई 'हिन्द स्वराज' के द्योतक नहीं कहे जा सकते। उन्हें आधार बनाकर ही चाहे, किन्तु कुछ अपनी बात तो हो! किन्तु अब तक किसी ने इस तरह देखा ही नहीं था। सो, इस कठिनाई का हम साम्मुख्य कर रहे हैं।

पी–51, मधुबन पश्चिम
किसानमार्ग, जयपुर–302015

◆◆◆

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

न्यायदर्शन में तर्क-मीमांसा

अरूण मिश्र

कार्य–कारण भाव की स्थापना के लिये या अनुमान में व्याप्ति सम्बन्ध की स्थापना के लिये सहचार मात्र पर्याप्त नहीं होता है। सहचार में व्यभिचार की शंका की निवृत्ति के लिये तर्क नामक प्रत्यय को अवधारित किया गया है। इसीलिये विश्वनाथ भाषापरिच्छेद में तर्क को शंका निवर्त्तक कहते हैं। इस तर्क नामक प्रत्यय का विश्लेषण कर इसका स्वरूप तथा लक्षण स्पष्ट करना एवं इसका फल निर्धारित करना इस लेख का लक्ष्य है। तर्क का सामान्य परिचय देते हुए तर्कभाषाकार श्री केशव मिश्र अनिष्ट की प्राप्ति को तर्क कहते हैं। उनके अनुसार जिस धर्मी में व्यापक का होना इष्ट नहीं है, उस धर्मी में सिद्ध व्याप्ति से सम्बन्ध रखने वाले दो धर्मों में व्याप्य के अंगीकार से अनिष्ट व्यापक की आपत्ति तर्क कहलाता है। जैसे– यदि यहाँ घट होता तो भूतल की भाँति दिखाई देता। ''तर्कोऽनिष्टप्रसंगः। स च सिद्धव्याप्तिकयोर्धमयोर्व्याप्यांगीकारेण अनिष्टव्यापकप्रसञ्जनरूपः। यथा– यद्यत्र घटोऽभविष्यत् तर्हि भूतलमिवाद्रक्ष्यत् इति। ''प्रमाणों का सहायक इस तर्क को संशय से भिन्न कहा गया है। बाल–बोध के लिये लिखे गये इस ग्रंथ से लेख का लक्ष्य प्राप्त नहीं होता है, अतएव न्यायशास्त्र के अन्य मौलिक ग्रंथों की सहायता ली गयी है। न्यायशास्त्र के विकास को निम्न तीन भागों में विभाजित किया जाता है– प्राचीन न्याय, मध्यवर्त्ती न्याय और नव्य न्याय। तदनुसार ही लेख के खंडों का विभाजन किया गया है। लेख के प्रथम खंड में लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्राचीन न्याय के ग्रंथों की सहायता ली गयी है। प्राचीन न्याय में तर्क की अवधारणा का क्रमिक विकास गौतमीय न्यायसूत्र, वात्स्यायन का भाष्य, उद्योतकर का वार्त्तिकम्, वाचस्पति मिश्र की तात्पर्यटीका, एवं उदयनाचार्य की परिशुद्धि में देखने को मिलता है। लेख के इस प्रथम खंड में इन चार ग्रंथों के आधार पर तर्क के स्वरूप, लक्षण, एवं फल की व्याख्या की गयी है। इस न्याय–चतुर्ग्रंथिका में तर्क का जिस प्रकारक चर्चा की गयी है वह उदयनाचार्य की न्यायकुसुमाञ्जलिः में उठाये गये तर्क के प्रसंग में समस्या एवं निराकरण से भिन्न होने के कारण प्रथम खंड में ही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

न्यायकुसुमाञ्जलिः के परिप्रेक्ष्य में तर्क की व्याख्या की गयी है। लेख का द्वितीय खंड मध्यवर्त्ती नैयायिक भासर्वज्ञ का न्यायभूषणम् तथा श्रीवल्लभाचार्य की न्यायलीलावती को समर्पित है। न्यायभाष्य से प्रभावित न्यायभूषणम् नामक अपने इस ग्रंथ में भासर्वज्ञ तर्क पर संक्षिप्त चर्चा ही करते हैं तथापि उस संक्षिप्त चर्चा में भी वे अपनी मौलिकता का परिचय दे देते हैं। भासर्वज्ञ का नामोल्लेख श्रीवल्लभाचार्य अपने न्यायलीलावती में अनेक बार करते हैं, इससे स्पष्ट है कि श्रीवल्लभाचार्य भासर्वज्ञ के पश्चात् अवतरित होते हैं। अतएव द्वितीय खंड में न्यायभूषणम् के पश्चात् न्यायलीलावती में किये गये तर्क विषयक चर्चा प्रस्तुत किया गया है। न्यायलीलावती के उपर श्री शंकर मिश्र का कंठाभरणम्, श्री वर्धमानोपाध्याय का प्रकाश एवं श्री भगीरथ ठक्कुर की प्रकाशविवृति प्रसिद्ध है। इन तीनों के आलोक में न्यायलीलावती को आलोकित करने का प्रयास किया गया है। लेख का चतुर्थ खंड गंगेशोपाध्याय की तत्त्वचिन्तामणिः के व्याप्तिग्रहोपाय एवं तर्क प्रकरण पर आधारित है। उनके मत को प्रस्तुत करने के लिये श्री मथुरानाथ तर्कवागीश के रहस्य टीका की सहायता ली गयी है। चतुर्थ खंड में लेख का उपसंहार किया गया है।

I

प्रथम न्याय सूत्र में अवयव के पश्चात् तर्क का उद्देश होने से उद्देश के क्रम का अनुसरण करते हुए अवयव सूत्र के अनन्तर तर्क का लक्षण करते हुए सूत्रकार गौतम कहते हैं कि "अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तित-स्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः।" सामान्यतः ज्ञात धर्मी में एक पक्ष के अनुकूल कारण का दर्शन होने से उस पक्ष में संभावना प्रत्यय अर्थात् भवितव्यता का अवभास होने पर उस पक्ष के ग्राहक प्रमाणों को लेकर उससे इतर पक्ष की शिथिलता के सम्पादन में उन प्रमाणों को तत्त्वज्ञान के लिये प्रवर्त्त कराने वाला ऊह तर्क कहलाता है। यह सूत्रार्थ जयन्त भट्ट के निम्नलिखित पंक्ति से स्पष्ट है– "अविज्ञाततत्त्वे सामान्यतो ज्ञाते धर्मिण्येकपक्षानुकूलकारणदर्शनात्तस्मिन् सम्भावनाप्रत्ययो भवितव्यतावभासः तस्मिंस्तदितरपक्षशैथिल्यापादने तद्ग्राहकप्रमाणमनुगृह्य तानि सुखं प्रवर्तयंस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्क इति।" ऊह और तर्क दोनों ही पर्यायवाची शब्द हैं, अतः सूत्र में दोनों का प्रयोग क्यों किया गया है? तर्क के लक्षण का प्रतिपादन ही ऊह के प्रयोग का प्रयोजन है। ऊहरूपत्व होना ही तर्क का लक्षण है। सूत्र में इतर पद का प्रयोग कारण विशेष और फल निर्देश के लिये किया गया है। 'कारणोपपत्तितः" पद का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रयोग कारण के निर्देश के लिये, 'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे' का प्रयोग विषय के निर्देश के लिये, तथा 'तत्त्वज्ञानार्थं' का प्रयोग फल के निर्देश के लिये किया गया है। "ऊह इति पर्यायाभिधाने किं प्रयोजनम्? लक्षणप्रतिपादनमेव। तदेव हि तर्कस्य लक्षणं यदूहरूपत्वम्। इतरस्तु सूत्रे कारणविशेषाय फलनिर्देशाय च। कारणोपपत्तित इति कारणनिर्देशः। अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे इति विषयनिर्देशः। तत्त्वज्ञानार्थं इति फलनिर्देशः। कभी कभी तर्क पद का प्रयोग अनुमान के लिये भी किया जाता है; अतः यहाँ भी तर्क को अनुमान न समझ लिया जाय इसीलिये ऊह पद का प्रयोग तर्क के विशेषण के रूप में किया गया है। यह तर्क ऊह है, अनुमान नही। तर्क की तत्त्वज्ञानार्थता भी प्रमाणों के अनुग्राहक के रूप से होता है, साक्षात् भाव से नहीं। "तदिहापि तर्कोऽनुमानं मा विज्ञायीत्यूहग्रहणम्। ऊहोऽत्र तर्क उच्यते नानुमानम्। तत्त्वज्ञानार्थप्यस्य प्रमाणानुग्राहकत्वेन न साक्षात्।"

भाष्यकार सूत्रार्थ को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अर्थ का तत्त्व अविज्ञायमान होने में ज्ञाता को उसे जानने की जिज्ञासा होती है। ज्ञाता की यह जिज्ञासा 'मुझे अर्थ के तत्त्व को जानना चाहिये' के रूप में अभिव्यक्त होती है। जिज्ञासित वस्तु के दो विरोधी धर्मों में भेद होने से ज्ञाता यह विचार करता है कि वस्तु इस प्रकारक है वा इस प्रकारक नहीं है। जिन दो विमृश्यमान धर्मों में से जिस किसी एक धर्म का प्रमाण संभव होता है, उस धर्म का प्रमाण संभव होने से ज्ञाता उसे स्वीकार कर लेता है। यहाँ प्रमाण नामक कारण हेतु है। प्रमाण नामक हेतु संभव होने से यह कहा जाता है कि वस्तु इस प्रकारक होना चाहिये, इतर प्रकारक नहीं। भाष्यकार के शब्दों में– "अविज्ञायमानतत्त्वेऽर्थे जिज्ञासा तावज्जायते जानीयेममर्थमिति। अथ जिज्ञासितस्य वस्तुनो व्याहतौ धर्मौ विभागेन विमृशति, किं स्विदित्थम् आहोस्विन्नेत्थमिति। विमृश्यमानयोर्धर्मयोरेकतरं कारणोपपत्त्यानुजानाति संभवत्यस्मिन् कारणं प्रमाणं हेतुरिति। कारणोपपत्त्या स्यादेवमेतत् नेतरदिति।"

वार्तिककार के अनुसार कारणोपपत्ति पद का अर्थ प्रमाणोपपत्ति होता है, और उपपत्तिः पद का अर्थ संभव होता है। इस प्रकार यह अर्थ होना चाहिये कि इस विमृश्यमान में प्रमाण संभव है और जिस विमृश्यमान में प्रमाण संभव होता है उसे हम स्वीकार करते हैं। "कारणोपपत्तितः इति। प्रमाणोपपत्तितः। उपपत्तिः संभवः। संभवति एतस्मिन् प्रमाणमिति मवेदयमर्थ इति।" भाष्यकार ने कारणोपपत्ति पद को विच्छेद करके स्पष्ट नहीं किया

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है। वार्त्तिकम् में यह पद स्पष्ट किया गया है परन्तु वार्त्तिककार भी अपने स्पष्टीकरण में कारण पद को स्पष्ट करना छोड़ दिया है। इस पद को संपूर्णता में वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट किया है। कारणोपपत्ति में दो पद है– कारण और उपपत्ति। कारण का अर्थ प्रमाण, और उपपत्ति का अर्थ संभव होता है। इस प्रकार कारणोपपत्ति से यह कहा जाता है कि दो में से अमुक विमृश्यमान में प्रमाण संभव होता है। ''कारणोपपत्त्येति व्याचष्टे– संभवत्यस्मिन् कारणं प्रमाणमिति। अत्र च कारणमित्यस्य व्याख्यानं प्रमाणमिति। उपपत्तिव्याख्यानं संभवतीति। ''उदयनाचार्य कारणोपपत्तिः पद के लिये प्रमाणाभ्यनुज्ञा पद का प्रयोग करते हैं। वह स्वयं कहते हैं कि 'कारणोपपत्तिः प्रमाणाभ्यनुज्ञा'' ।

सूत्रार्थ स्पष्ट करने के लिये भाष्यकार द्वारा प्रयुक्त पदों का अर्थ स्पष्ट करने के पश्चात् वाचस्पति कहते हैं कि जिस विषय में प्रमाण प्रवर्त होने के लिये उद्यत होता है उसके विपर्यय की आशंका में तावत प्रमाण प्रवर्त नहीं होता यावत अनिष्टापत्ति से विपर्यय की आशंका का निराकरण नहीं हो जाता है। विपर्यय की आशंका का निराकरण ही अपने विश्रय में प्रमाण का संभव होना होता है, और इस प्रकार सूत्र में प्रयुक्त उपपत्ति पद की व्याख्या की जाती है। उस प्रमाण के संभव होने से कर्तव्यता रूपेण प्रमाण के विषय का सामान्य ज्ञान होने से विशोधित विषय में प्रमाण के प्रति ऊह प्रवर्त होता है। उस संभावित प्रमाण का आश्रय असिद्ध होने से उसे स्वतः विषय के निश्चय का योग नहीं होता है, फलतः यह कहना चाहिये कि ऊह अर्थात् प्रमाण का संभव होना ही विषय के निश्चय का हेतु नहीं है अपितु विषय का निश्चय प्रमाण से होता है। ''एतदुक्तं भवति, यस्मिन् विषये प्रमाणं प्रवर्तितुमुद्यतं तद्विपर्ययाशंकायां न तावत् प्रमाणं प्रवर्तते, न यावदनिष्टापत्त्या विपर्ययाशंका अपनीयते। तदपनय एव च स्वविषये प्रमाणसंभव इति चोपपत्तिरिति व्याख्यायते। तया प्रमाणस्योपपत्त्या इतिं कर्तव्यतया प्रमाणविषयमभ्यनुजानत्या विशोधिते विषये प्रमाणमप्रत्यूहं प्रवर्तते। न चोपपत्तिरेवास्तु निश्चयहेतुः कृतं प्रमाणेनेति वक्तव्यम्। उपपत्तेः स्वतन्त्राया आश्रयासिद्धतया स्वतो निश्चयायोगात्।''

वाचस्पति सूत्र के तात्पर्य को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि तर्क का यह लक्षण तर्क को उसके समानजातीय संशयादि और असमानजातीय इच्छादि से भिन्न करता है। यद्यपि संशय के जिज्ञासा में भी दो अर्थों के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अविज्ञात–तत्त्व प्रवर्त होते हैं, अर्थात् वहाँ भी दो अर्थ होते हैं, और उनके तत्त्व अविज्ञात होते हैं, तथापि किसी एक के लिये वहाँ प्रमाण संभव नहीं होता है। वाचस्पति के अनुसार तर्क और संशय में यही भेद है। यहाँ वाचस्पति की पंक्ति द्रष्टव्य है– "समानजातीयात् संशयादेरसमानजातीयात् चेच्छादेर्व्यवच्छिद्यते। यद्यपि संशयजिज्ञासे अप्यविज्ञाततत्त्वेऽर्थे प्रवर्तेते, तथापि न कारणोपपत्तित इति तयोर्व्यवच्छेद इति।

वाचस्पति भाष्यकार के मत को आगे बढ़ाते हुए तर्क या ऊह को अनिष्टापत्ति कहते हैं तथा उससे प्रमाण के विषय को विशोधित करते हैं। अनिष्टापत्ति से विपर्यय की आशंका का निराकरण किया जाता है और उससे प्रमाण का विषय विशोधित होता है। ऊह से विशोधित विषय में ही प्रमाण प्रवर्त होता है। वाचस्पति के अनुसार ऊह या तर्क का आश्रय असिद्ध होने से वह विषय के निश्चय का हेतु नहीं होता है, विषय का निश्चय प्रमाण से ही होता है। न्याय एक परिष्कार करने की पद्धति है और वाचस्पति तर्क या ऊह को उसके समानजातीय और असमानजातीय से भेद कर उसके लक्षण को और अधिक परिष्कृत करते हैं तथा उदयनाचार्य को आगे बढ़ने के लिये पृष्ठभूमि तैयार करते हैं।

उदयनाचार्य अपने न्यायवार्त्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि में कहते हैं कि दो विरोधी धर्मों में भेद होने से ज्ञाता को उभयकोटिक समान संशय होता है कि वस्तु इस प्रकार है वा इस प्रकारक नहीं है। इस उभयकोटिक समान संशय का स्रोत अर्थ के अविज्ञायमान–तत्त्व को जानने की जिज्ञासा होती है । उस जिज्ञासा का निराकरण कर नियत विषय को जन्म देने के लिये तर्क से प्रमाण का विषय अभ्यनुज्ञात होता है अर्थात् हम कहते हैं कि उस विषय में प्रमाण संभव है। उदयनाचार्य के शब्दों में– "उभयकोटिसमसंशय प्रभवसमजिज्ञासा–मपनीय नियतविषयांजनयता तर्केण प्रमाणविषयोऽभ्यनुज्ञातो भवति। "यह कहना कि दो विमृश्यमानों में से अमुक विमृश्यमान में कारण रूप प्रमाण संभव है, ऊह का व्यापार कहलाता है। उदयनाचार्य कहते हैं कि अपने इस व्यापार से फल की सिद्धि में व्यापार करता हुआ ऊह तर्क कहलता है। उनके अनुसार सूत्र में अविज्ञात–तत्त्व नामक पद का प्रयोग यह ज्ञापन करने के लिये किया गया है कि वह तर्क आपादित सन्देह में और सन्देह की स्थिति में प्रवर्त होता है। परिशुद्धिः की पंक्ति यहाँ द्रष्टव्य है– "तेनायं सूत्रार्थः, प्रमाणाम्यनुज्ञा व्यापारेण फलसिद्धौ व्याप्रियमाण ऊहस्तर्क इति। स चापादित

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सन्देहे सन्देहापन्ने च प्रवर्तत इति ज्ञापनार्थ मविज्ञाततत्त्व इत्युक्तम्। "सूत्र में कारणोपपत्तितः पद का प्रयोग कभी इस भाव से भी किया जाता है जिससे हम यह कह पाते हैं कि तर्क आहार्य हेतु से उत्पन्न होता है। "स चाहार्यहेतोरुत्पद्यत इति ज्ञापनार्थं कारणोपपत्तित इति पदं तदर्थतयापि क्वचिद् व्याख्यात्। "उदयनाचार्य अनिष्ट प्रसंग को तर्क का स्वरूप कहते हैं और उसे निम्न पाँच प्रकारों में विभाजित करते हैं – आत्माश्रय, इतरेतराश्रय, चक्रक, अनवस्था और प्रमाणबाधितार्थ। ये अनिष्ट प्रसंग ही आचार्य दो में से एक में स्वीकार करते हैं। "स्वरूपमनिष्टप्रसंगः। स चात्माश्रयेतरेतरा–श्रयचक्रकानवस्थाप्रमाणबाधितार्थप्रसंगभेदेन पञ्चविधः। एते हि एकत्र भवन्तोऽन्यतरम् अभ्यनुजानन्ति।" तर्क का विषय अविज्ञत–तत्त्व होता है विज्ञात–तत्त्व नहीं। "तदस्य विषयोऽविज्ञाततत्त्वः।"

उदयनाचार्य का वैशिष्ट्य यह है कि वे अपने पूर्वाचार्यों से भिन्न व्यापार करते हुए ऊह को तर्क कहते हैं। ऊह मात्र उनके अनुसार तर्क नहीं है। पूर्वाचार्यों द्वारा की गयी कारणोपपत्ति पद की व्याख्या के अतिरिक्त एक और व्याख्या करते हैं तथा तर्क को आहार्य हेतु से उत्पन्न मानते हैं। आहार्य और अनाहार्य हेतु की व्याख्या न्यायकुसुमाञ्जलिः में उपलब्ध होने के कारण आगे किया जायेगा। वाचस्पति अनिष्टापत्ति की चर्चा मात्र करते हैं, वे उसके प्रकारों का वर्णन नहीं करते, परन्तु उदयनाचार्य उसके प्रकारों का वर्णन कर अनिष्टापत्ति की अवधारणा को विकसित करते हैं। अनिष्टापत्ति की इस अवधारणा को उदयनाचार्य अपनी न्यायकुसुमाञ्जलिः में स्वक्रियाव्याघात नामक प्रत्यय से व्यक्त करते हैं। वे कहते हैं कि वहीं आशंका की जाती है जहाँ आशंका के विषय–वस्तु में स्व–क्रिया का व्याघात नहीं होता है। उदयनाचार्य के इस मत का खंडन श्रीहर्ष अपने खंडनखंडखाद्य में करते हैं और आगे जाकर गंगेशोपाध्याय श्रीहर्ष के मत का खंडन कर उदयनाचार्य के मत का अनुसरण करते हैं।

तर्क में जिज्ञासा और संशय के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण भाष्यकार द्वारा प्रतिपादित सूत्रार्थ से होता है। सूत्रार्थ से स्पष्ट है कि अर्थ के तत्त्व को अविज्ञायमान होने में पहले उसे जानने की जिज्ञासा होती है और तत्पश्चात् संशय होता है कि वस्तु इस प्रकारक है वा नहीं है। यहाँ वाचस्पति का कहना है कि यद्यपि संशय के पश्चात् ही जिज्ञासा होती है, तथापि जिज्ञासा के पश्चात् भी संशय होता है। उनके अनुसार संशय तर्क की प्रवृत्ति का अंग

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

होता है, फलतः जिज्ञासा के पश्चात् संशय यहाँ विवक्षित है। ऊह का दूसरा नाम तर्क होने से ही दोनों पक्षों में एक के निषेध से दूसरा प्रमाण का विषय होने से नियत जिज्ञासा के कारण दूसरे का प्रमाण संभव होता है। वाचस्पति कहते हैं कि संशय का तर्क की प्रवृत्ति के प्रति अंगता विषय की निकटता के कारण होता है। तात्पर्यटीका में कहा गया है कि– "यद्यपि संशयस्य पश्चादेव जिज्ञासा भवति, तथापि जिज्ञासायाः परस्तादपि संशयो भवति। स चात्र विवक्षितः। तर्कप्रवृत्त्यंगत्वात्। तर्केण हि प्रसंगापरनाम्ना द्वयोः पक्षयोरेकतरनिषेधेनैकतरः प्रमाणविषयतया अभ्यनुज्ञातव्य इति विषयप्रत्यासत्त्या तर्कप्रवृत्तिं प्रत्यंगता संशयस्येति।"

सूत्रार्थ स्पष्ट करने के पश्चात् भाष्यकार तर्क का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि ज्ञाता (आत्मा) जो ज्ञातव्य अर्थ को जानता है उसे तत्त्वतः जानने की जिज्ञासा होती है। यहाँ यह विमर्श है कि वह ज्ञाता उत्पत्ति–धर्मक है वा अनुत्पत्ति–धर्मक। जिसकी उत्पत्ति होती है वह अनित्य और जिसकी उत्पत्ति नहीं होती है वह नित्य होता है। यह संशय कि ज्ञाता इस प्रकारक है वा इस प्रकारक नहीं है विमर्श कहलाता है। जिसका तत्त्व अविज्ञात होता है वह विमृश्यमान कहलाता है। अर्थ का तत्त्व अविज्ञात होने से ही वह विमर्श का विषय होता है। विमृश्यमान अर्थ के अविज्ञात–तत्त्व में जिस धर्म के प्रमाण की संभावना की उत्पत्ति होती है, उस धर्म को स्वीकार करते हैं। नित्य आत्मा ही अपने द्वारा किये गये कर्म के फल का अनुभव करता है। संसार, अर्थात् दुःख और अपवर्ग, अनुत्पत्ति–धर्मक ज्ञाता (नित्य आत्मा) में होना चाहिये, और पुनः उत्पत्ति–धर्मक ज्ञाता (अनित्य आत्मा) में नहीं होना चाहिये। दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञानों के एक के पूर्व एक के कार्य से अन्त में दुःख, और एक के उत्तर एक के लोप से अपवर्ग होता है। मिथ्या ज्ञान दोष का, दोष प्रवृत्ति का, प्रवृत्ति जन्म का, जन्म दुःख का कारण होता है। वाचस्पति कहते हैं कि, 'अनेन संसारो दर्शितः 'अर्थात् भाष्यकार द्वारा इससे संसार (दुःख) का निरूपण किया गया है। पुनः उत्तरोत्तर के लोप से अपवर्ग दिखाया गया है। वाचस्पति इसे 'अनेनापवर्गः' से व्यक्त करते हैं। भाष्यकार कहते हैं कि उत्पत्ति–धर्मक ज्ञाता देह, इन्द्रिय, विषय–बुद्धि, और वेदनाओं से सम्बद्ध होता है और उत्पन्न ज्ञाता को उसके द्वारा किये कर्म के फल का भोग नहीं हो पाता है। जो उत्पन्न होता है वह नष्ट हो जाता है, अतः अविद्यमान या नष्ट को उसके द्वारा किये गये कर्म

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के फल का भोग नहीं होता है। इस प्रकारक ज्ञाता (आत्मा) को फल का भोग करने के लिये अनेक शरीर के साथ योग या शरीरादि से अत्यन्त वियोग नहीं होना चाहिये। जहाँ ज्ञाता प्रमाण की संभावना नहीं देखता है, उसे वह स्वीकार नहीं करता है। दो विमर्शो में से जिस विमर्श में प्रमाण अनुपपद्यमान होता है वह विमर्श ज्ञाता स्वीकार नहीं करता है। यही ऊह का लक्षण है, और वही ऊह तर्क कहलाता है। ज्ञाता (आत्मा) को उत्पत्ति–धर्मक नहीं होना चाहिये, क्योंकि उत्पत्ति–धर्मक होने से ज्ञाता अनित्य होता है और वह अपने द्वारा किये गये कर्म के फल का भोग नहीं कर सकता है। अतः अनुत्पत्ति–धर्मक होने से ज्ञाता होता है, उत्पत्ति–धर्मक होने से ज्ञाता (आत्मा) नहीं होता है। वार्त्तिककार के अनुसार जो ऊह यह कहता है कि ज्ञाता (आत्मा) अनुत्पत्तिधर्मकेन होना चाहिये, वही तर्क कहलाता है। वार्त्तिक की पंक्ति यहाँ द्रष्टव्य है– "अनुत्पत्ति धर्मकेनानेन भवितव्यमिति य ऊहः स तर्क इति।" भाष्यकार तर्क के उपरोक्त उदाहरण को निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं– "तत्र निदर्शनम्, योऽयं ज्ञाता ज्ञातव्यमर्थं जानीते, तं तत्त्वतो जानीयेति जिज्ञासा। स किमुत्पत्तिधर्मकोऽथानुत्पत्तिधर्मक इति विमर्शः। विमृश्यमानेऽविज्ञात–तत्त्वेऽर्थेयस्य धर्मस्याभ्यनुज्ञाकारणमुपपद्यते, तमनुजानाति। यद्ययमनुत्पत्ति–धर्मकः, ततः स्वकृतस्य कर्मणः फलमनुभवति ज्ञाता। दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्या–ज्ञानानामुत्तरमुत्तरं पूर्वस्य पूर्वस्यकारणम्, उत्तरोत्तरापाये च तदनन्तरापायादपवर्गः इति स्यातां संसारापवर्गौ। उत्पत्तिधर्मके ज्ञातरि पुनर्नस्याताम्। उत्पन्नः खलु ज्ञाता देहेन्द्रियविषयबुद्धिवेदनाभिः संबध्यत इति नास्येदं स्वकृतस्य कर्मणः फलम्। उत्पन्नश्च भूत्वा न भवतीति तस्याविद्यमानस्य निरुद्धस्य वा स्वकृतकर्मणः फलोपभोगो नास्ति। तदेवमेकस्यानेकशरीरयोगः शरीरादिवियोगश्चात्यन्तं न स्यादिति, यत्र कारणमनुपपद्यमानं पश्यति, तन्नानुजानाति, सोऽयमेवलक्षण ऊहस्तर्क इत्युच्यते।"

वाचस्पति भाष्यकार के मत को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि आत्मा (ज्ञाता) के नित्यत्व को स्थापित करने वाला प्रवर्तमान प्रमाण तर्क से अनुग्रहित होता है। इस प्रकार तर्क अनुग्राहक होता है। द्वितीयतः वे कहते हैं। कि प्रमाण के विषय के विपर्यय का अनिष्ट के साथ संयोग होने से उस विपर्यय का साक्षात् निष्कासन हो जाता है। तृतीयतः प्रमाण के विषय के विपर्यय की अस्वीकृति ही प्रमाण के विषय के प्रमाण का संभव होना होता है। इन बिन्दुओं पर प्रकाश डालते हुए वाचस्पति कहते हैं कि दुःख और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अपवर्ग आत्मा के नित्यत्व में होना चाहिये। अनित्यत्व में नहीं। अनुत्पत्ति–धर्मक ज्ञाता नित्य, और उत्पत्ति–धर्मक ज्ञाता अनित्य होता है। आत्मा के नित्यत्व को मानने वाले वादी और अनित्यत्व को मानने वाले प्रतिवादी कहे गये हैं। वादी और प्रतिवादी के प्रति ज्ञाता (आत्मा) के नित्यत्व–विषय को स्थापित करने वाला प्रवर्तमान प्रमाण हमें तर्क से प्राप्त होता है। वाचस्पति के अनुसार अनुत्पत्ति–धर्मक ज्ञाता प्रमाण का विषय और उत्पत्ति–धर्मक ज्ञाता प्रमाण के विषय का विपर्यय होता है। प्रमाण के विषय के विपर्यय का अनिष्ट के साथ संयोग होता है। प्रमाण के विषय के विपर्यय का अनिष्ट के साथ संयोग होने से ही उसका साक्षात् निष्कासन हो जाता है। निष्कासन के आधार पर वाचस्पति कहते हैं कि प्रमाण के विषय के विपर्यय की अस्वीकृति ही प्रमाण के विषय के प्रमाण का संभव होना है। वाचस्पति के अनुसार भाष्यकार अन्त में उपसंहार करते हुए कहते हैं कि जहाँ हमें प्रमाण अनुपपद्यमान दिखता है, हम उसे स्वीकार नहीं करते हैं। वाचस्पति अपने तात्पर्यटीका में लिखते हैं कि "तेन संसारापवर्गाविच्छन्तौ वादि प्रतिवादिनौ प्रति आत्मनित्यत्वविषयं प्रमाणं प्रवर्तमानमनेन तर्केणानुगृह्यत इति प्रमाणविषयविपर्ययाननुज्ञैव च प्रमाणविषायाभ्यनुज्ञा। अनिष्टप्रसक्त्या विपर्ययस्यैव साक्षात् निवर्तनात्। अत एवान्ते भाष्यकार उपसंजहार–यत्र कारणमनुपपद्यमानं पश्यति, तत् नानुजानातीति।"

इस प्रकार न्यायचतुर्ग्रंथिका में सूत्रार्थ स्पष्ट करने की तीन योजनाएं देखने को मिलती हैं। भाष्यकार की योजना, वार्त्तिककार की योजना और वाचस्पति की समन्वयात्मक योजना। भाष्यकार की योजना वार्त्तिककार की योजना से पृथक् है, और वाचस्पति दोनों योजनाओं को समन्वित कर सूत्रार्थ स्पष्ट करते हैं। इन तीनों योजनाओं का पर्यवसान उदयनाचार्य की परिशुद्धि एवं न्यायकुसुमाञ्जलिः में होता है। पीछे भाष्यकार की योजना के आधार पर न्यायचतुर्ग्रंथिका के संदर्भ में सूत्रार्थ को स्पष्ट करते हुए तर्क के उदाहरण को स्पष्ट किया गया है। आगे वार्त्तिककार की योजना का अनुसरण कर सूत्रार्थ को स्पष्ट करने का प्रयास किया जायेगा। वार्त्तिककार सूत्रार्थ को पूर्ववत् ग्रहण करते हुए सूत्र में प्रयुक्त पदों का भाषायी विश्लेषण कर उन्हें वाह्यार्थ के साथ सम्बद्ध करते हैं। वार्तिककार की यह योजना वाचस्पति, उदयनाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य से होते हुए गंगेशोपाध्याय की तत्त्वचिन्तामणिः में उत्कर्ष पर पहुँचती है। अविज्ञात–तत्त्व में तत्त्व पद का लक्षण प्रस्तुत कर,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अविज्ञात–तत्त्व नामक समस्त पद का विग्रह एवं वाह्यार्थ के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित कर, तर्क को संशय, निर्णय, एवं अनुमान से पृथक् कर, तर्क का उपयोग तत्त्व–ज्ञान के लिये कर, वार्त्तिककार उद्योतकर तर्क विषयक चर्चा को एक नई दिशा प्रदान करते हैं।

सूत्र का अर्थ वार्त्तिककार पूर्ववत् ग्रहण करते हुए सूत्र में प्रयुक्त अविज्ञात–तत्त्व में तत्त्व पद को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकारक वह अर्थ होता है उस प्रकारक वह भाव अर्थ का तत्त्व कहलाता है। जिस प्रकारक तथ्य है वही तत्त्व है। यहाँ विपर्यय नहीं होता है। वार्त्तिककार द्वारा दिया गया तत्त्व का यह लक्षण भाष्य से समर्थित है जैसा कि भाष्य के निम्नलिखित पंक्ति से स्पष्ट है– "अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे इति यथा सोऽर्थो भवति तस्य तथाभावस्तत्त्वम्, अविपर्ययो यथातथ्यम्।" तत्त्व के इस लक्षण को परिष्कृत करते हुए वाचस्पति कहते हैं कि समानजातीय और असमानजातीय से भिन्न् अर्थ का अविपरीत रूप तत्त्व कहलाता है। "समानासमानजातीय–व्यवच्छिन्नमविपरीतं रूपं तत्त्वमित्यर्थः।" 'अर्थ के अविज्ञात तत्त्व में' हम तत्त्व को सामान्यतः जानते हैं। तत्त्व को सामान्यतः जानने से तर्क होता है, तत्त्व का निश्चित ज्ञान होने से तर्क नहीं होता है। यह पुनः कैसे कहते हैं कि हम अर्थ का तत्त्व सामान्यतः जानते हैं? 'अर्थ के अविज्ञात–तत्त्व में' नामक पदों के ज्ञान से यह कहा जाता है कि हम अर्थ के तत्त्व को सामान्यतः जानते हैं। इससे यह नहीं कह सकते कि हम अर्थ के तत्त्व को निश्चित रूप से जानते हैं। जिस हेतु से सूत्र में 'अर्थ के अविज्ञात–तत्त्व में' नामक पद कहा गया है उससे यह ज्ञापित होता है कि अर्थ का तत्त्व सामान्यतः जाना जाता है। पुनः यदि अर्थ के तत्त्व का सामान्य ज्ञान भी नहीं हो तो 'अविज्ञात तत्त्व में' नहीं कहना चाहिये, 'अविज्ञात' ही कहना चाहिये। वार्त्तिककार के शब्दों में– "अस्यार्थः पूर्ववत्। अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे इति। यथा सोऽर्थो भवति सोऽस्य तथाभावस्तत्त्वम्। एतस्मिन् अविज्ञाते सामान्यतोऽधिगते। कुतः पुनरेतत् सामान्यतोऽधिगतमिति? अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे इत्यभिज्ञानात्। यस्मादयमाह–अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे इति, तेन ज्ञापयति, सामान्यतोऽधिगतमिति। यदि पुनः सामान्यमपि नाधिगतं स्यात्, न ब्रूयात् अविज्ञाततत्त्वे इति। अविज्ञात इत्येवं ब्रूयादिति।"

सूत्रकार के अनुसार तत्त्वज्ञानार्थ ऊह तर्क कहलाता है। ऊह से तत्त्वज्ञान नहीं होता है, वह तो तत्त्वज्ञानार्थ ही होता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि यह ऊह तत्त्वज्ञानार्थ क्यूँ होता है, उससे तत्त्वज्ञान ही क्यूँ नहीं होता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यह प्रश्न ऊह की ज्ञानमीमांसीय स्थितिं से सम्बन्धित है। जिन दो विमृश्यमानों में से जिस किसी एक विमृश्यमान क़ा प्रमाण संभव है उसे हम स्वीकार करते हैं। यहाँ प्रश्न उठाया गया है कि क्या वह तत्त्व–ज्ञान है वा क्या स्वीकृति तत्त्वज्ञानार्थ होती है? यह प्रश्न ऊह के प्रमाणत्व एवं स्वतंत्रता से भी जुड़ा हुआ है। ऊह से यदि अवधारण हो तो ऊह प्रमाण होगा और उससे तत्त्व–ज्ञान होना चाहिये। यहाँ ऊह स्वतंत्र हो जाता है और प्रमाण की अनुग्राहकता समाप्त हो जाती है। इन कारणों से उद्योतकर एवं वाचस्पति उक्त प्रश्न करते हैं। ऊह का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए यह कहा गया था कि जो ज्ञाता (आत्मा) ज्ञातव्य अर्थ को जानता है उस ज्ञाता को तत्त्वतः जानना चाहिये। हमें यह जानना चाहिये कि क्या यह ज्ञाता (आत्मा) उत्पत्ति–धर्मक है वा अनुत्पत्ति–धर्मक? भाष्य के अनुसार इन दो विमृश्यमानों में से एक को स्वीकार करते हैं। जो ऊह यह कहता है कि ज्ञाता (आत्मा) अनुत्पत्ति–धर्मक होने से अर्थात् अनुत्पत्तिधर्मकेन होना चाहिये तर्क़ कहलाता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि वह तत्त्व–ज्ञान ही है तो सूत्रकार ऊह को तत्त्वज्ञानार्थ क्यूँ कहते हैं? वार्त्तिककार के अनुसार– "उदाहरणम्, योऽयं ज्ञाता ज्ञातव्यमर्थं जानीते तत्त्वतो जानीयेति किमयमुत्पत्तिधर्मकोऽथानुत्पत्तिध र्मक इति यावदेकतरमनुजानातीति भाष्यम्। अनुत्पत्तिधर्मकेनानेन भवितव्यमिति य ऊहः स तर्क इति। नन्वेतत् तत्त्वज्ञानमेव, किमुच्यते तत्त्वज्ञानार्थमिति? " वाचस्पति इसी प्रश्न को तर्क के आकार के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करते हैं।" वह इस प्रकारक है, इतर नहीं" एक आकार है, और इस प्रकारक आकार यदि तर्क है तो तत्त्व–ज्ञान नहीं, तत्त्व–ज्ञानार्थ ही क्यों है। अर्थात् तर्क से तत्त्व–ज्ञान क्यों नहीं, वह तत्त्व–ज्ञानार्थ ही क्यों होता है?

भाष्यकार इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि तत्त्व–ज्ञान अवधारित होता है, परन्तु तर्क से प्राप्त विषय अनवधारित होने से वह तत्त्व–ज्ञान नहीं है। यह इस प्रकार कि ऊह से प्रमाण की संभावना के आधार पर हम दो में से एक धर्म को स्वीकार करते हैं, न तो अवधारित करते हैं, न व्यवसाय करते हैं, और न निश्चित करते हैं। अतएव ऊह से तत्त्वज्ञान नहीं होता है। अब प्रश्न उठता है कि ऊह तत्त्वज्ञानार्थ कैसे है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भाष्यकार ऊह के निम्न पक्षों को उद्घाटित करते हैं– (1) ऊह से यह कहा जाता है कि तत्त्व–ज्ञान के विषय का प्रमाण का संभव है। प्रमाण का संभव होना अभ्यनुज्ञा कहलाता है। (2) ऊह एक चिन्ता है। ऊह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

से यह चिन्ता करते हैं कि दो विमृश्यमानों में से किस विमृश्यमान में प्रमाण संभव है, और इससे ऊह तत्त्व–ज्ञान के विषय को विशोधित करता है। इस तरह भाष्यकार कहते हैं कि तत्त्व–ज्ञान के विषय के प्रमाण को संभव होने के लक्षण से विशिष्ट ऊह से चिन्ता के फलस्वरूप तत्त्व–ज्ञान का विषय विशोधित होने के अनन्तर प्रमाण के सामर्थ्य से तत्त्व–ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार ऊह तत्त्व–ज्ञानार्थ होता है, तत्त्व–ज्ञान तो प्रमाण के सामर्थ्य से उत्पन्न होता है। भाष्यकार के शब्दों में– "कथं पुनरयं तत्त्वज्ञानार्थो न तत्त्वज्ञानमेवेति? अनवधारणात्। अनुजानात्ययमेकतरं धर्मं कारणोपपत्त्या, न त्ववधारयति न व्यवस्यति न निश्चिनोत्येवमेवेदमिति। कथं तत्त्वज्ञानार्थ इति? तत्त्वज्ञान– विषयाभ्यनुज्ञालक्षणादुहाद् भावितात् प्रसन्नादनन्तरं प्रमाणसामर्थ्यात् तत्त्वज्ञानमुत्पद्यत इत्येवं तत्त्वज्ञानार्थ इति।"

वार्त्तिककार इन प्रश्नों का उत्तर अनुत्पत्तिधर्मक ज्ञाता (आत्मा) और प्रमाण की उपादेयता के आधार पर देते हुए तथाभूत को प्रमाण का विषय कहकर वाह्यार्थवाद स्थापित करते हैं। पीछे कहा जा चुका है कि वह ऊह जो कहता है कि ज्ञाता (आत्मा) अनुत्पत्ति धर्मक रूप से ग्रहण करना चाहिये तर्क कहलाता है। यदि इस ऊह से तत्त्व–ज्ञान अवधारित नहीं होता है तो अनुत्पत्तिधर्मक ज्ञाता से क्या होना चाहिये? पुनः यह ऊह तत्त्वज्ञानार्थ कैसे होता है, तथा तत्त्वज्ञान कैसे और किसका होता है? इन प्रश्नों का उत्तर ही मूल प्रश्नों का उत्तर है। वार्त्तिककार कहते हैं कि ऊह से जिस विमृश्यमान को स्वीकार करते हैं उसका अवधारण हमें नहीं होता है। यह अवधारित नहीं किया जाता कि अर्थ इस प्रकारक ही है। अवधारण नहीं होने से यह तत्त्वज्ञान नहीं कहा जा सकता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि ऊह से अवधारण नहीं होता है तो अनुत्पत्तिधर्मक ज्ञाता (आत्मा) से क्या होता है? इस प्रश्न के उत्तर में हम कहते हैं कि ऊह से यह कहा जाता है कि प्रमाण के विषय का प्रमाण संभव है। इससे स्पष्ट है कि ऊह से तत्त्वज्ञान नहीं होता है। यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि ऊह तत्त्वज्ञानार्थ कैसे होता है? ऊह से प्रमाण के विषय का हम विवेचन करते हैं। प्रमाण का विषय नामक विवेचित यह अर्थ युक्त होता है। विवेचन के आधार पर हम यह कहने में सक्षम होते हैं कि ऊह तत्त्वज्ञानार्थ होता है। वार्त्तिककार के अनुसार ये प्रवर्तमान प्रमाण तर्क से विवेचित अर्थ को जिस प्रकारक वह होता है उसी प्रकार से उस अर्थ को ज़ानता है। अतः ऊह तत्त्वज्ञानार्थ होता है, और प्रमाण

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

से हमें तथाभूत का तत्त्वज्ञान होता है। न्यायभाष्यवार्त्तिकम् की पंक्ति यहाँ द्रष्टव्य है– "नन्वेतत् तत्त्वज्ञानमेव, किमुच्यते तत्त्वज्ञानार्थमिति? नेदं तत्त्वज्ञानमनवधारणात्। न ह्ययमवधारयति एवमेवेति। किं त्वनुत्पत्तिधर्मकेण ज्ञात्रा भवितव्यमितिप्रमाणविषयमभ्यनुजानाति। कथं पुनरयं तत्त्वज्ञानार्थो भवति? प्रमाणविषयविवेचनात्। प्रमाणविषयमनेन विविनक्ति अयमर्थो युक्त इति। प्रमाणानि पुनः प्रवर्तमानानि तर्कविविक्तमर्थं तथाभूतमधिगमयन्तीति।" वाचस्पति कहते हैं कि तर्क यदि 'वह इस प्रकारक है, इतर नहीं' आकारक है तो वह तत्त्वज्ञान क्यूँ नहीं, तत्त्वज्ञानार्थ ही क्यूँ है। "ननु यदि तर्क एवमेतत्, नेतरदित्येवमाकारः, कथं पुनरयं तत्त्वज्ञानार्थो न तु तत्त्वज्ञानमेवेति।" वाचस्पति के अनुसार ऊह से अनवधारण होना ही इस समस्या का निदान है। उनके अनुसार प्रमाणों से तत्त्व–ज्ञान का निश्चय होता है, फलतः तत्त्व–ज्ञान और तत्त्वज्ञानार्थ में अत्यन्त भेद कहा गया है। "परिहरति–अनवधारणादिति। पर्यायैर्निश्चयादत्यन्तभेद उक्तः। " प्रमाण की भाँति तर्क स्वतंत्र नहीं होता है, वह प्रमाण का अनुग्राहक होता है। वाचस्पति के अनुसार भाष्यकार का यह मत कि ऊह के पश्चात् प्रमाण के सामर्थ्य से तत्त्व–ज्ञान उत्पन्न होता है तर्क के स्वातन्त्र्य का खंडन करता है।"प्रमाणसामर्थ्यादिति तर्कस्य स्वातन्त्र्यमपाकरोति। " अतः ऊह से तत्त्वज्ञान नहीं अपितु वह तत्त्वज्ञानार्थ होता है। तत्त्वज्ञान तो ऊह के पश्चात प्रमाण के सामर्थ्य से होता है।

यहाँ यह विचारणीय है कि यदि तर्क तत्त्व के निश्चय का साधन नहीं है, अपितु प्रमाण ही तत्त्व–निश्चय का साधन है तो क्यों वाद (1.2.1) में सूत्रकार ने प्रमाण के साथ तर्क का नामोल्लेख किया है? इस प्रश्न का स्पष्ट उल्लेख करते हुए वाचस्पति लिखते हैं– "स्यादेतत् यदि न तर्कस्तत्त्वनिश्चयसाधनमपि तु प्रमाणमेव, हन्त भोः किमर्थं तर्हि वादे प्रमाणतर्क–साधनेत्युक्तमिति। " इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि चूँकि यह तर्क प्रमाणों के विषय के विपर्यय की आशंका को विघटित करता है तथा प्रमाण का होना संभव कहता है, इसीलिये सूत्रकार द्वारा वाद में प्रमाण के साथ तर्क का उल्लेख किया गया है। भाष्यकार के शब्दों में– "सोऽयं तर्कः प्रमाणानि प्रतिसंदधानः प्रमाणाभ्यनुज्ञानात् प्रमाणसहितो वादेऽपदिष्ट इति।" यहाँ यह ज्ञातव्य हो कि वाचस्पति के अनुसार प्रतिसंदधान पद का अर्थ यहाँ प्रमाणों के विषय के विपर्यय की शंका से विघटित प्रमाणों से है। "प्रमाणविषयविपर्ययशंकाविघटितानि प्रमाणानि प्रतिसंदधान इत्यर्थः।"

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वार्त्तिककार सूत्र के अविज्ञाततत्त्व नामक पद का भाषायी–विश्लेषण कर सूत्र की ज्ञेय–केन्द्रित व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इस पद का ज्ञाता–केन्द्रित व्याख्या वाह्यार्थ का विरोधी होने से तथा इस पद के अर्थ्यमान् होने से ही उद्योतकर और पुनः वाचस्पति सूत्र की ज्ञेय–केन्द्रित व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इस पद का जिस प्रकार से व्याख्या करते हैं तदनुसार तर्क का लक्षण बनता है। पद के अर्थ्यमानत्व के आधार पर इसकी कर्म के रूप में व्याख्या की गयी है कर्त्ता के रूप में नहीं। अनेकानेक विरोधी प्रश्नों का उत्तर देते हुये ये नैयाय सम्मत भाषा की समीचीन व्याख्या करते हुए उसे वाह्यार्थ से सम्बद्ध करते हैं।

वार्त्तिककार के अनुसार सूत्र में प्रयुक्त 'अविज्ञाततत्त्व' एक समास है। इस समास को तृतीया या षष्ठी विभक्ति से विग्रह किया जा सकता है, और यहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि इस पद को 'जिससे (जिस ज्ञाता से) तत्त्व अविज्ञात है 'या' जिसका (जिस अर्थ का) तत्त्व अविज्ञात है' कहें। प्रश्न उठता है कि तृतीया विभक्ति से विग्रह के कारण और षष्ठी विभक्ति से विग्रह के कारण 'अविज्ञाततत्त्व' के अर्थ में क्या भेद हो जाता है? इस भेद को स्पष्ट करने के लिये यह कहना आवश्यक है कि 'वह जिनसे तत्त्व अविज्ञात है' ज्ञाता केन्द्रित है, और 'जिसका तत्त्व अविज्ञात है' ज्ञेय केन्द्रित है। इस समास को दोनों में से जिससे विग्रह करते हैं तदनुसार तर्क का लक्षण हो जाता है। यदि तृतीया विभक्ति से विग्रह करते हुए कहें कि 'जिनसे तत्त्व अविज्ञात है' यह अविज्ञात–तत्त्व है, तो वह अविज्ञात–तत्त्व ज्ञाता का विशेषण होता है। तदनुसार उस अविज्ञात–तत्त्व में उसको समझने के लिये ज्ञाता में जो ऊह होता है वह तर्क का लक्षण होता है। षष्ठी विभक्ति से विग्रह करते हुए कहें कि 'जिसका तत्त्व अविज्ञात है', तो वहाँ उस वस्तु का तत्त्व अविज्ञात होता है। उस अविज्ञात–तत्त्व में षष्ठी से विग्रह करने से उस वस्तु के अविज्ञात–तत्त्व को समझने के लिये जो ऊह होता है वह तर्क कहलाता है। यह ज्ञेय केन्द्रित विग्रह है। षष्ठी विभक्ति से 'अविज्ञाततत्त्व' के अर्थ का समुचित ग्रहण होता है, अतः अर्थ को ग्रहण करने के सामर्थ्य के आधार पर यह स्पष्ट है कि इस पद को षष्ठी से विग्रह करना ही उचित है। षष्ठी से इस समास को विग्रह करने में ही युक्त अर्थ–ग्रहण सामर्थ्य है। "युक्तत्वे हेतुमाह–युक्तमर्थग्रहण–सामर्थ्यादिति।" वाचस्पति का कहना है कि षष्ठी से विग्रह के परिणामस्वरूप ही युक्त अर्थ उपपन्न होता है, परन्तु तृतीया से विग्रह के परिणामस्वरूप

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

युक्त अर्थ अनुपपपन्न रह जाता है। "अवधारयति– षष्ठीविग्रहेणेति। युक्तम् उपण्न्नम्। तृतीयाविग्रहेण त्वनुपपन्नमित्यर्थः।" इसीलिये इस समास को षष्ठी से विग्रह करना उचित है। संशयवादी यहाँ कहते हैं कि इस समास को षष्ठी से विग्रह करना उचित नहीं है, क्योंकि यहाँ कोई विशेष हेतु नहीं जिससे कि षष्ठी से विग्रह होने से इस समस्त पद का अर्थ उपपन्न हो। इन संशयवादियों के अनुसार 'युक्तम्' पद का प्रयोग कर वार्त्तिककार प्रतिज्ञा मात्र का अभिधान करते हैं। यहाँ हेतु का अभिधान नहीं किया गया है जिससे कि षष्ठी से विग्रह किये जाने की अनिवार्यता सिद्ध हो। संशयवादी के मत का उल्लेख करते हुए वाचस्पति लिखते हैं– "संशयवाद्याहविशेषहेत्वभावादिति। युक्तमिति प्रतिज्ञामात्रेणोच्यते, न त्वत्र हेतुरभिधीयत इति भावः।" यहाँ कोई विशेष हेतु नहीं है जिससे यह कहा जा सके कि यह पद तृतीया से विग्रह करने से अवगत हो या षष्ठी से विग्रह करने से अवगत हो। वार्त्तिककार के शब्दों में– "अविज्ञाततत्त्व इति समासोऽयम्। न चावगम्यते किमविज्ञातं तत्त्वं येन, उताविज्ञातं तत्त्वं यस्येति। कश्चात्र विशेषः? यद्यविज्ञातं तत्त्वं येन सोऽयमविज्ञाततत्त्वः परिच्छेत्ता, तस्मिन्नविज्ञाततत्त्वे परिच्छेत्तरि तदवगमार्थ–मूहस्तर्क इति प्राप्नोति। अथाप्यविज्ञातं तत्त्वं यस्य तद्वस्त्वविज्ञाततत्त्वम्, तस्मिन्नविज्ञाततत्त्वे इति षष्ठीविग्रहेणातियुक्तमेतत्। न विशेषहेत्वभावात्। नात्र विशेषहेतुरिति किमयं तृतीयाविग्रहेण समास उत षष्ठविग्रहेणेति।"

षष्ठी समास में अर्थ को ग्रहण करने का सामर्थ्य होता है, अतः यह कहना उचित है कि यह समास षष्ठी से विग्रह होने से जाना जाता है। षष्ठी से विग्रह करने के औचित्य को प्रदर्शित करने के लिए ही 'युक्तमर्थग्रहण–सामर्थ्यादिति' कहा गया है। यहाँ अर्थ–ग्रहण के सामर्थ्य को षष्ठी से विग्रह करने का हेतु कहा गया है। षष्ठी से विग्रह होने के फलस्वरूप ही सूत्रकार ने सूत्र में 'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे' कहा है। यह पद अर्थ्यमान है और इस पद के अर्थ्यमानत्व होने से यह पद कर्म है। इससे ज्ञापित होता है कि यह समास षष्ठी से विग्रह होने से जाना जाता है, और तृतीया से विग्रह होने से यह समास नहीं जाना जाता है। वाचस्पति स्पष्ट कहते हैं कि "तृतीयाविग्रहेण त्वनुपपन्नमिति"।

यहाँ सूत्र में 'अर्थ' पद के ग्रहण के औचित्य एवं अनौचित्य पर प्रकाश डालते हुए समास करने के औचित्य एवं अनौचित्य पर प्रकाश डाला गया है। कुछ लोग कहते हैं कि अर्थ पद के ग्रहण के विना भी सामर्थ्य के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आधार पर इस समास का ज्ञान हो जाने से अर्थ–ग्रहण के सामर्थ्य के आधार पर षष्ठी से विग्रह करना उचित नहीं है। इन लोगों के अनुसार समास के विग्रह के लिये 'अर्थ' पद को ग्रहण करना आवश्यक नहीं है। वे कहते हैं कि 'जिसका तत्त्व अविज्ञात है' में अर्थ के अनुक्त होने में भी वह अर्थ जाना ही जाता है और उसके सामर्थ्य से यह समास षष्ठी में विग्रह पाता है। इस छिपे हुए अभिप्रेत अर्थ (तात्पर्य) का परिहार करते हुए सूत्र में 'अर्थ' पद को ग्रहण करने के पक्ष में कहते हैं कि इस प्रकार भी समास में सन्देह जस का तस रह जाता है चाहे समास को तृतीया से विग्रह करें वा षष्ठी से। 'अर्थ' पद को ग्रहण करने के औचित्य पर प्रश्न करने वाले कहते हैं कि अभिष्टार्थ की प्राप्ति के लिये समास करना अनिवार्य नहीं है। ये अभिप्रेत अर्थ को स्वीकार करते हुए समास करने की अनिवार्यता को अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार 'जिसका तत्त्व अविज्ञात है' वाक्य हो सकता है और इससे अभिष्ट अर्थ की प्राप्ति हो जाती है। समास में सन्देह होता है, वाक्य में अभिष्ट अर्थ की प्राप्ति से सन्देह नहीं होता है। अतः समास न हो, 'जिसका तत्त्व अविज्ञात है' वाक्य ही हो। इस वाक्य से अभिष्ट अर्थ की प्राप्ति हो जाती है और वह सन्देह भी नहीं होता जो समास में होता है। सूत्र में 'अर्थ' को ग्रहण करने के पक्षधर ये उत्तरवादी कहते हैं कि यह सही है कि समास किये विना वाक्य से अभिष्टार्थ की प्राप्ति हो जाती है, परन्तु समास लाघव के लिये किया जाता है, अतः समास आवश्यक है। पहले 'अर्थ' पद के अनौचित्य पर प्रकाश डालते हुए कहा गया था कि 'जिसका तत्त्व अविज्ञात है' में अर्थ पद अनुक्त होने में भी वह अर्थ जाना ही जाता है। यह सोचकर कि पहले कहे गये इस कथन से उनका अभिप्राय दर्शित नहीं हुआ वे पुनः कहते हैं कि 'जिसका तत्त्व अविज्ञात है' के सामर्थ्य से 'अर्थ' पद के अनुक्त होने पर भी संप्रेषण हो जाता है, अतः 'अर्थ' पद सूत्र में ग्रहण करना आवश्यक नहीं है। सूत्र में 'अर्थ' पद के होने को उचित कहने वाले कहते हैं कि यहाँ उक्त सन्देह होना चाहिये, और तर्क के सभी लक्षण नहीं कहने से उत्पन्न समस्या का प्रसंग उठ जाने से 'अर्थ' पद को ग्रहण करना चाहिये। वाचस्पति कहते हैं कि वार्त्तिककार यहाँ अपने अभिप्राय का उद्घाटन करते हैं। वार्त्तिककार के अभिप्राय को व्यक्त करते हुए वाचस्पति कहते हैं कि सामर्थ्यप्राप्त अर्थ के अनभिधान में अति–प्रसंग की समस्या उठ जाती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

'अर्थ' को अवधारित किये विना सामर्थ्य पर आश्रित होकर तर्क का लक्षण करने में संशय का निराकरण नहीं हो पाता है। तर्क को संशय से भिन्न करने के लिये संशय का निराकरण आवश्यक है। अतः संशय के निराकरण के लिये सूत्र में 'अर्थ' पद का ग्रहण कर्तव्य है। वाचस्पति के शब्दों में– "समस्तानभिधानप्रसंगाच्चेति स्वाभिप्रायोद्‌घाटनम्। एतदुक्तं भवति, सामर्थ्यप्राप्तस्यानभिधानेऽतिप्रसंग इति न सामर्थ्यमाश्रित्य लक्षणे संशयो निराकरणीय इति तन्निराकरणार्थमर्थग्रहण कर्तव्यमिति।" यदि सामर्थ्य का आश्रय लेकर अर्थ के ग्रहण का प्रतिषेध करते हैं तो ऊह तर्क होता है और तर्क का शेष लक्षण सामर्थ्यतः जाना जाता है। वार्त्तिककार कहते हैं कि 'अर्थ' पद का ग्रहण आवश्यक है क्योंकि ज्ञाता के निराकरण के लिये इस पद का ग्रहण आवश्यक होता है। ज्ञाता का निराकरण करते हुए वाचस्पति कहते हैं कि एक ही ज्ञाता अनेक ज्ञानों में समान रूप से पाया जा सकता है, इसीलिये ज्ञाता से ज्ञान निरूपित नहीं होता ज्ञेय से ही होता है। वाचस्पति के अनुसार सामर्थ्य पद का यही अर्थ है। "ज्ञेयेन हि ज्ञानं निरूप्यते न ज्ञात्रा, तस्य साधारण्यादिति सामर्थ्यमित्यर्थः।" वार्त्तिककार का उक्त मत उनके निम्न शब्दों से स्पष्ट है– "षष्ठीविग्रहेणेति युक्तम्, अर्थग्रहणसामर्थ्यात्। यस्मादयमाह अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे इति, अर्थ्यमाणत्वात् कर्म, तेन ज्ञापयति षष्ठीसमासौयं न तृतीयाविग्रह इति, अर्थग्रहणमन्तरेणापि सामर्थ्यतोऽधिगतेः। अविज्ञातं तत्त्वं यस्येत्यनुक्तेऽप्यर्थे गम्यत एवैतदर्थ इति। एवमपि समासे सन्देहतादवस्थ्यम्। मा भूत समासो वाक्यमेवास्तु अविज्ञात तत्त्वं यस्येति। भवत्येवभीष्टार्थ प्राप्तिः, लाघवार्थं तु समासकरणम्। अनुक्तेऽप्यर्थशब्दे सामर्थ्यतो गम्यते अविज्ञातं तत्त्वं यस्येति। अत्रोक्तं सन्देह एव स्यादिति। समस्तानभिधानप्रसंगाच्च। यदि च सामर्थ्यम् आश्रित्यार्थग्रहणं प्रतिषिध्यते, तदैवं युक्तमूहस्तर्क इति। सामर्थ्यतः शेषं गम्यत इति। तस्मादर्थग्रहणं ज्ञातृ निराकरणार्थमिति।"

'अर्थ' पद को ग्रहण करने के औचित्य पर प्रकाश डालने के पश्चात् सूत्र में 'अविज्ञाततत्त्व' नामक पद के होने के औचित्य एवं अनौचित्य पर चर्चा करते हुए उद्योतकर एवं वाचस्पति इस पद के होने के औचित्य के पक्ष में अपना मत प्रस्तुत करते हैं। आगे यह चर्चा की गयी है कि इस पद को नहीं होने या होने से तर्क के लक्षण पर क्या प्रभाव पड़ता है। जो सूत्र में इस पद के होने के विपक्ष में हैं उनके अनुसार इस पद के नहीं होने से कोई बाधा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

नहीं होती है, परन्तु जो पक्ष में हैं उनके अनुसार बुद्धि के धर्म के निराकरण के लिये सूत्र में इस पद का होना अनिवार्य है। सूत्र के परिणामस्वरूप न्याय में विज्ञात–तत्त्व और अविज्ञात–तत्त्व में एक ऐसा भेदक रेखा खींचा गया है कि ऊह तदनुसार दो श्रेणी में विभक्त हो जाता है। विज्ञात–तत्त्व में ऊह को तर्क नहीं कहा जा सकता है क्योंकि ऐसा कहने से प्रमाण भी तर्क होना चाहिये। सूत्र में 'अविज्ञात–तत्त्व' नहीं कहने से, तर्क के सभी लक्षण नहीं कहने से जो समस्या उठती है उसका निराकरण नहीं हो पाता है। तर्क के सभी लक्षणों को ध्यान में रखते हुए ही यहाँ लाघव का आदर नहीं किया गया है।

जो सूत्र में अविज्ञात–तत्त्व को वक्तव्य नहीं मानते हैं उनका कहना है कि सामर्थ्य से अभिष्टार्थ की प्राप्ति होने से 'जिसका तत्त्व अविज्ञात है' के सामर्थ्य से 'अविज्ञात–तत्त्व' यहाँ वक्तव्य नहीं है। उनका कहना है कि प्रमाण संभव होने से तत्त्वज्ञानार्थ ऊह तर्क कहलाता है। इस कथन में 'जिसका तत्त्व अविज्ञात है' वह जाना जाता है, और इसके सामर्थ्य से अविज्ञात–तत्त्व जाना जाता है। इसे स्पष्ट करते हुए वाचस्पति कहते हैं कि ज्ञात–तत्त्व में तत्त्वज्ञानार्थिता नहीं होती है, इसीलिये अविज्ञात–तत्त्व जाना जाता है क्योंकि उसमें तत्त्वज्ञानार्थिता होती है। वाचस्पति के शब्दों में– "न हि तत्त्वे ज्ञाते तत्त्वज्ञानार्थिता भवति। तस्माद् गम्यते अविज्ञाततत्तत्त्व इति भावः।" अविज्ञात–तत्त्व तर्क का लक्षण है और सूत्र में इसे अवक्तव्य कहने से तर्क के सभी लक्षणों का अभिधान नहीं हो पाता है, फलतः जिसके निराकरण के लिये यह लक्षण किया जाता है उसका निराकरण नहीं हो पाता है। सभी लक्षणों के अनभिधान होने से जो समस्या उत्पन्न होती है उस उत्पन्न समस्या के फलस्वरूप यह कहना कि सूत्र में 'अविज्ञाततत्त्व' वक्तव्य नहीं है अनुचित है। सूत्र में अविज्ञाततत्त्व को अवक्तव्य कहने वाले कहते हैं कि तर्क के सभी लक्षणों का अभिधान नहीं होने से कुछ बाधित नहीं होता है। वाचस्पति इनके अविदित अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि उनका इतना ही कथन है कि ऊह तर्क होना चाहिये चाहे वह विज्ञात–तत्त्व में हो या पुनः वह ऊह अविज्ञात–तत्त्व में तत्त्वज्ञानार्थ हो। "अविदिताभिप्रायश्चोदक आह– मा भूदिति। अस्तूहस्तर्क इत्येतावदेवेत्यर्थः" वार्त्तिककार उक्त कथन को निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं– "अविज्ञाततत्त्व इति न वक़्तव्यम्, गम्यमानत्वात्। कारणोपपत्तितस्तत्त्ज्ञानार्थम् ऊहस्तर्क इत्युक्ते गम्यत एतत् अविज्ञातं तत्त्वं यस्येति। अत्र तावदुक्तं समस्तानभिधानप्रसंगादिति। मा भूत समस्ताभिधानम्, किं नो बाध्यते?"

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सूत्र में 'अविज्ञाततत्त्व' को आवश्यक मानने वालों के अनुसार यह कहना सर्वथा अनुचित है कि तर्क के सभी लक्षणों का अभिधान नहीं होने से कुछ नहीं होता है। उनके अनुसार तर्क के सभी लक्षणों का अभिधान आवश्यक है। उनका कहना है कि समस्ताभिधान में बुद्धि के धर्म का निराकरणार्थत्व होने से यह कथन अनुचित है कि सूत्र में अविज्ञात–तत्त्व वक्तव्य नहीं है। न्याय के अनुसार बुद्धि के धर्म के निराकरण के लिये सूत्र में 'अविज्ञात–तत्त्व' कहा गया है। अर्थों में ऊह दो प्रकार से होता है– विज्ञाततत्त्व में और अविज्ञाततत्त्व में। सांख्य के अभिप्राय से शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, विज्ञान, ऊह, अपोह, तत्त्वाभिनिवेश (तत्त्व को जानने की उत्कट अभिलाषा) बुद्धि के धर्म होते हैं। इनका ऊह विज्ञात तत्त्व से विशिष्ट होता है। ये ऊह विज्ञात–तत्त्व में होते हैं तथा तत्त्व को अवधारित कर जाने जाते हैं। वह अर्थ जो पूर्व में विज्ञात होता है उसी ही हम ऊह से जानते हैं। यह ऊह पूर्व में अनुभूत अर्थ का निर्धारण है, परन्तु यह तर्क नहीं कहलाता। पुनः जो ऊह अर्थ के अविज्ञात तत्त्व में होता है वह तर्क कहलाता है। अविज्ञात–तत्त्व में ऊह को विज्ञात–तत्त्व में ऊह से भिन्न करने के लिये ही सूत्र में 'अविज्ञाततत्त्व' कहा गया है। वार्त्तिककार लिखते हैं– "न, बुद्धिधर्म–निराकरणार्थत्वात्। उभयथा खल्वर्थेषूहो भवति विज्ञाततत्त्वे चाविज्ञाततत्त्वे चेति। तत्र तावद् विज्ञाततत्त्व ऊहः शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणविज्ञानोहा–पोहतत्त्वामिनिवेशा बुद्धिधर्मा इति तत्त्वमवधृतं विजानाति, विज्ञातमूहत इति। किमुक्तं भवति, योऽसावर्थः पूर्वम् अनेन विज्ञातस्तमेवोहत इति पूर्वानुभूतार्थ–परिच्छेद ऊह इत्युच्यते, न त्वयं तर्कः। यः पुनरविज्ञाततत्त्वेऽर्थे भवति ऊहः सतर्क इति।"

वाचस्पति सूत्र में 'अविज्ञाततत्त्व' कहने के औचित्य पर प्रकाश डालने के लिये बुद्धि–धर्म पद की व्याख्या करते हैं तथा जिसे सांख्य द्वारा बुद्धि–धर्म कहा गया है उसे वे आत्म–गुण कहते हैं। यद्यपि वाचस्पति प्रयोजन का अनुसरण करते हुए लाघव का आदर नहीं करते हैं। वाचस्पति के अनुसार चूँकि बुद्धि द्रव्य नहीं है, इसीलिये बुद्धि में गुण का अभाव होता है। बुद्धि में बुद्धिमत्व का अभाव होने से न्याय मत में शुश्रूषादि कं बुद्धि का धर्म नहीं माना गया है। ये आत्म–गुण हैं। वाचस्पति कहते हैं कि बुद्धि में बुद्धिमत्त्व का अभाव होने से शुश्रूषादि यद्यपि बुद्धि के धर्म नहीं हैं तथापि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

साँख्य के मतानुसार इन आत्म–गुणों को बुद्धि का धर्म कह दिया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि इतना कहा जाय कि ऊह तर्क है अर्थात् 'विज्ञात–तत्त्व' नहीं कहा जाय, तो इससे यह निष्पन्न होता है कि विज्ञात–तत्त्व में भी, पुनः तत्त्व–ज्ञान के लिये, पूर्व में अनुभूत अर्थ का निर्धारण करने वाला ऊह भी तर्क होना चाहिये। अर्थात् विज्ञात–तत्त्व में भी पुनः तत्त्वज्ञानार्थ जो ऊह होता है वह ऊह भी तर्क होना चाहिये। परन्तु वह तर्क नहीं है। इसीलिये सूत्र में अविज्ञात–तत्त्व कहा गया है जिससे कि विज्ञात–तत्त्व में ऊह को अविज्ञात–तत्त्व में ऊह से भिन्न किया जा सके। वाचस्पति कहते हैं कि तर्क योग्य ऊह जिस प्रकारक प्रमाण के संभव होने से होता है, उस प्रकारक प्रमाण का संभव होना अविज्ञात–तत्त्व को ग्रहण किये विना नहीं होता है। वे जो सूत्र में अविज्ञात–तत्त्व को वक्तव्य नहीं मानते, उनका कहना है कि जिस प्रकार से अविज्ञात–तत्त्व को निर्धारित करने वाला ऊह प्रमाण के संभव होने से होता है, उस प्रकार से ही विज्ञात–तत्त्व को निर्धारित करने वाला ऊह भी प्रमाण के संभव होने से ही होता है, क्योंकि प्रमाण रूपी कारण के असंभव होने से ऊह रूपी कार्य का अभाव होता है। यह इसलिये कि कारण को असंभव होने में कार्य का भी अभाव होता है। निश्चय ही यहाँ ऊह होता है, परन्तु वह अविज्ञात–तत्त्व नहीं है, वह उससे भिन्न है। और जैसा कि सूत्र में अविज्ञात–तत्त्व को अवक्तव्य कहने वाले का अभिमत है, वैसा होने में प्रमाण भी तर्क होना चाहिये। परन्तु प्रमाण तर्क नहीं है। इसी हेतु से सूत्र में 'कारणोपपत्तितः' कहा गया है। अतः विज्ञात–तत्व में ऊह का निराकरण कर अविज्ञात–तत्त्व में ऊह को तर्क कहना तथा प्रमाण को तर्क से भिन्न करना सूत्रकार का प्रयोजन है। वाचस्पति के अनुसार सूत्र में प्रयोजन और लाघव में से प्रयोजन का अनुसरण किया गया है न कि लाघव का आदर किया गया है। वाचस्पति के शब्दों में– "उत्तरवादी स्वाभिप्रायमुद्घाटयति–न बुद्धिधर्मेति। यद्यपि नास्माकं राद्धान्ते शुश्रूषादयो बुद्धिधर्मा बुद्धिमत्त्वस्यैवाभावात्, तथाप्यात्मगुणा अपि साँख्याभिप्रायेण बुद्धिगुणा उक्ताः। एतदुक्तं भवति, यद्यूहस्तर्क इत्येतावदुच्येत, यदि वा तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्क इत्येतावन्मात्रम्, ततो विज्ञातेऽपि तत्त्वे य ऊहः पूर्वानुभूतपरिच्छेदात्मा जायते पुनस्तत्त्वज्ञानार्थं सोऽपि तर्कः स्यात्। तस्मादविज्ञाततत्त्व इति वक्तव्यमित्यर्थः। यद्यपि कारणोपपत्तित इत्येतस्मादयमर्थोऽपि गम्यत एव, तथापि कारणोपपत्तिरेवैवंरूपत्वं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

नाविज्ञाततत्त्वग्रहणमन्तरेण भवति। तथा हि अधिगतपरिच्छेदात्माप्यूहः कारणस्योपपत्त्या संभवेन जायते, कारणासंभवे कार्यस्याभावात्। न त्वसावविज्ञाततत्त्व इति ततो व्यवच्छेदः। तथा च सति प्रमाणमपि तर्कः स्यात्। अत उक्तं कारणोपपत्तित इति। उक्ते सति प्रयोजनानुसरणम्, न त्विह लाघवादरः सूत्रकारस्येति मन्तव्यम्।''

पुनः द्रष्टव्य है कि वार्त्तिककाकर के अभिप्राय को स्पष्ट करने के क्रम में यह कहा जा चुका है कि अविज्ञाततत्त्व में जो ऊह होता है वह तर्क कहलाता है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि 'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे' को षष्ठी से विग्रह किया गया है। अब प्रश्न उठता है कि 'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे' सप्तमी में है, तो पुनः इसे षष्ठी से विग्रह कैसे संभव है, और यदि संभव है तो इससे क्या लाभ है? यहाँ दो पक्ष हैं। एक पक्ष का कहना है कि सप्तमी में षष्ठी का अभिधान असंभव होने से इस पद को षष्ठी में व्यक्त होना चाहिये। वाह्यार्थवादी नैयायिक का कहना है कि षष्ठी में व्यक्त होने से यह पद वाह्यार्थ को संपूर्णता में व्यक्त नहीं कर पाता है और इसीलिये सूत्रकार ने सप्तमी में कहा है। वे पुनः सप्तमी को षष्ठी से विग्रह करने के पक्ष में अपना मत प्रस्तुत करते हैं। जिनके अनुसार यह पद षष्ठी में व्यक्त होना चाहिये वे कहते हैं कि अधिकरण के विषय में (जिस पद में सप्तमी विभक्ति है) षष्ठी का अभिधान असंभव होने से 'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे' के स्थान पर 'अविज्ञात–तत्त्वस्यार्थस्य' कहना चाहिये। अविज्ञाततत्त्व से विशेषित अर्थ ज्ञायमान होता है अर्थात् उसमें ज्ञेय होने की योग्यता होती है। ज्ञायमान कर्म होता है, और कर्म में षष्ठी ही होता है, जैसे– घट का ज्ञान। इस प्रकार जो इस पद को षष्ठी में व्यक्त करने के पक्ष में हैं उनका ही कहना है कि 'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे' नहीं कहना चाहिये।

II

न्याय के अनुसार उक्त कथन सही नहीं है क्योंकि यहाँ एक विभक्ति को दूसरे विभक्ति के अर्थ में ग्रहण किया गया है। इस द्रष्टव्य सप्तमी में षष्ठी का प्रस्ताव ही है, जैसे कि निम्न वैशेषिक–सूत्र में द्रष्टव्य है– वाण में अयुगपत् संयोग–विशेष कर्म के अन्यत्व में अर्थात् विभिन्न कर्मों में हेतु है। इस वैशेषिक–सूत्र में 'वाण में' पद का तात्पर्य 'वाण का' है। यहाँ सूत्र में प्रयुक्त सप्तमी विभक्ति को षष्ठी के अर्थ में ग्रहण किया गया है। इस

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मत का विरोध करते हुए इस पद को षष्ठी में व्यक्त करने के पक्ष में कहा गया है कि न्याय के इस सूत्र में विभक्ति का परिवर्तन उचित नहीं है। यदि विभक्ति के परिवर्तन से कुछ फल देखते हैं तो परिवर्तन उचित है। जैसे 'उस वाण में अयुपगत् अनेक संयोग–विशेष 'अधिकरण का अर्थ है, और यहाँ अधिकरण के अर्थ को षष्ठी में अभिधान करने से अर्थ का लाभ होता है। विभक्ति के परिवर्तन से कहा गया है कि वाण के जो भी अवयव हैं और उन अवयवों के जो भी संयोग–विशेष हैं, वे विभिन्न कर्मों के हेतु हैं। यहाँ हम फल देखते हैं, परन्तु न्याय–सूत्र में विभक्ति के परिवर्तन से कुछ फल नहीं देखते हैं, इसीलिये न्याय–सूत्र में विभक्ति का परिवर्तन उचित नहीं है। नैयायिक उत्तर देते हुए कहते हैं कि विभक्ति के परिवर्तन को अनुचित कहना अनुचित है। उनके अनुसार सामान्य रूप से ज्ञात के विशेष के ज्ञापन के लिये परिवर्तन आवश्यक है। अर्थ के जिस तत्त्व का सामान्य–ज्ञान होता है उसमें उपस्थित संयोगिन् और समवायिन् नामक विशेष के ज्ञापन के लिये विभक्ति का परिवर्तन आवश्यक है। इसीलिये वाचस्पति कहते हैं कि सामान्य रूप से ज्ञात अर्थ के तत्त्व को विशेष रुप से जानने के लिये 'न न युक्तं इति' कहा गया है। ज्ञात के ही ये विशेष समवायिन् और संयोगिन् होते हैं। नित्यत्व विशेष आत्मा का समवायिन् है और वह्नि धूम का संयोगिन् होता है। वाचस्पति के शब्दों में– "परिहरति– न न युक्त इति। सामान्येनाधिगतस्य विशेषेण ज्ञापनार्थम्। नित्यत्वादयो विशेषाः समवायिनो वन्ह्यादयश्च धूमादिसंयोगिन इति।" षष्ठी में संयोगिन् व्यक्त होते हैं, समवायिन् नहीं। न्याय के अनुसार संयोगिन् और समवायिन् दोनों को व्यक्त करने के लिये ही सूत्र में 'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे' कहा गया है। उक्त कथनों को वार्त्तिककार निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं– "षष्ठ्यभिधानमधिकरणार्थासंभवादविज्ञात–तत्त्वस्यार्थस्येति वक्तव्यम् अविज्ञाततत्त्वोऽर्थो ज्ञायमानः कर्म भवति। कर्मणि च षष्ठयेव ज्यायसी। यथा घटस्य विज्ञानमिति। न, विभक्तिव्यत्तयात्। षष्ठीस्थल एवैषा सप्तमी द्रष्टव्या। यथा अन्यत्र, इषावयुगपत् संयोगविशेषाः कर्मान्यत्वे हेतुः इति विभक्तिव्यत्तयः। कस्मात्? यदि व्यत्ययेन कश्चिदर्थो लभ्यते, युक्तो व्यत्ययः। यथा तस्मिन्नेव इषावयुगपत् संयोगविशेषा इति अधिकरणार्थः। इषोरपि येऽवयवाः, तेषामपि ये संयोगविशेषास्तेऽपि कर्मान्यत्वे हेतुरिति। न पुनरिह विभक्तिव्यत्ययेन फलं पश्यामः। तस्मात् न युक्तो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विभक्तिव्यत्यय इति। न न युक्तः, सामान्याधिगतस्य विशेषज्ञापनार्थम्। यस्यैव सामान्यमधिगतं तद्वर्तिनो विशेषा अप्यचगन्तव्या इति। ते च विशेषाः संयोगिनः समवायिनश्च भवन्तीति।" नैयायिक तर्क की ज्ञानमीमांसीय स्थिति स्पष्ट करने के लिये उसके स्वरूप के आधार पर उसे संशय, निर्णय, अनुमान और युक्त्यापेक्ष अनुमान से भिन्न करते हैं। तर्क को पृथक् रूप से स्पष्ट करने के औचित्य पर निम्नलिखित तीन प्रश्न किये गये हैं– (1) कुछ लोगों का कहना है कि ऊह संशय और निर्णय से भिन्न नहीं है। यह ऊह निश्चय ही संशय होना चाहिये या निर्णय होना चाहिये। ऊह यदि संशय है तो उससे संकलित होता है और यदि कहें कि निर्णय है तो उससे संकलित होता है। अतः ऊह पृथक् से नहीं कहना चाहिये। (2) कुछ एक देशीय नैयायिक अनुमान को तर्क कहते हैं। उनके अनुसार हेतु, तर्क, न्याय, अन्वीक्षा अनुमान कहा जाता है। अतः इनके मत में भी तर्क को पृथक स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। (3) कुछ एक देशीय नैयायिक युक्ति की अपेक्षा रखने वाले अनुमान को तर्क कहते हैं। उनके अनुसार तर्क एक ऐसा अनुमान है जो विपर्यय में अनिष्ट प्रसंग की अपेक्षा रखता है "विपर्ययेऽनिष्टप्रसंगापेक्षं तर्क इति।" यहाँ तर्क साधक–बाधक प्रमाण की या साध्य–साधक के ज्ञान की अपेक्षा रखता है। फलतः तर्क को पृथक् रूप से स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। वार्त्तिककार उक्त कथन को निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं– "ऊहः संशय निर्णयाभ्यां न भिद्यत। अयं किलोहः संशयो वा स्यात् निर्णयो वा? यदि संशयस्तदा तेन संगृहीत इति पृथक् न पठितव्यः। अथ निर्णयः तदा तेन संगृहीत इति। अपरे तु अनुमानं तर्क इत्याहुः। हेतुस्तर्को न्यायोऽन्वीक्षा इत्यनुमानमाख्यायत इति। अपरे त्वनुमानमेव तर्कं युक्त्यपेक्षं वर्णयन्ति।"

वार्त्तिककार प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि जो ऊह को संशय और निर्णय से भिन्न नहीं कहते उन्हें इन प्रत्ययों के स्वरूप का ज्ञान नहीं है। इन प्रत्ययों के स्वरूप का ज्ञान नहीं होने से ही वे ऊह को संशय और निर्णय से भिन्न नहीं कर पाते हैं। संशय और ऊह दोनों में अर्थ का तत्त्व अविज्ञात होता है और प्रश्नकर्त्ता इस साधारणीकरण से आक्षिप्त हैं। ये आक्षिप्त–हृदय तर्क के स्वरूप का ज्ञान नहीं कर पाते हैं। यहाँ वार्त्तिककार द्वारा प्रयुक्त 'आक्षिप्त' पद का अर्थ आक्षिप्त–हृदय से है। "आक्षिप्त आक्षिप्तहृदयः, न तु तर्कप्रत्ययस्वरूपं चेतयत इत्यर्थः।" संशय और ऊह दोनों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

में अर्थ का तत्त्व अविज्ञात होता है और प्रश्नकर्त्ता को इनके स्वरूप का ज्ञान नहीं है, अतः वार्त्तिककार इनके स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। इन प्रत्ययों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वार्त्तिककार कहते हैं कि 'क्या अर्थ इस प्रकारक है?' आकारक अनवधारणात्मक प्रत्यय संशय और 'यह अर्थ इस प्रकारक है' आकारक अवधारणात्मक प्रत्यय निर्णय कहलाता है। दूर में ऊर्ध्व वस्तु को देखकर प्रश्न उठता है कि क्या वह ऊर्ध्व वस्तु ठूंठ (स्थाणु) है वा पुरुष? यहाँ अर्थ अनवधारित है, और दो में से किसी एक के पक्ष में प्रमाण संभव नहीं होने से यह संशय कहलाता है। ऊह संशय से च्युत होता है और प्रमाण की संभावना के सामर्थ्य से होता है। ऊह या तर्क में प्रमाण संभव होता है। ऊह या तर्क के विपरीत संशय में प्रमाण की संभावना नहीं होती है। निर्णय का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए वार्त्तिककार कहते हैं कि निर्णय विशेष के दर्शन से होता है और विशेष के अदर्शन से हमें निर्णय प्राप्त नहीं होता है। पुनः तर्क में हमें विशेष का दर्शन नहीं होता है। वाचस्पति का कहना है कि विशेष का दर्शन होने से प्रमाण से विषय का निश्चय होता है। तर्क से विषय का निश्चय नहीं होता है। तर्क प्रमाण के विषय की स्वीकृति मात्र देता है। स्वीकृति अनुज्ञान कहलाता है, और तर्क में अनुज्ञानमात्रत्व होता है। तर्क के अनुज्ञानमात्रत्व के फलस्वरूप तर्क से विषय का निश्चय नहीं हो पाता है। वाचस्पति तर्क का यही अर्थ ग्रहण करते हैं। "विशेषदर्शनादिति विशेषदर्शनात् निश्चयः प्रमाणेन भवति न तर्केण, तदनुज्ञानमात्रत्वात् तर्कस्येत्यर्थः।"

कुछ एकदेशीय नैयायिक अनुमान को तर्क कहते हैं। तर्क में विशेष का अदर्शन और अनुमान में दर्शन होता है। अनुमान में विशेष का दर्शन होने से अनुमान से विषय का निश्चय होता है। तर्क में विशेष का अदर्शन होने से विषय का निश्चय नहीं होता है। अतः अनुमान को तर्क कहना संगत नहीं है। इस प्रकार इन एकदेशीय नैयायिकों के कथन का प्रत्युत्तर हो जाता है। वार्त्तिककार प्रथम प्रश्न का निराकरण कर एकदेशिय नैयायिकों के उक्त मत का निराकरण करते हैं जैसा कि वाचस्पति के शब्दों से स्पष्ट है– "चोदक निराकृत्य सिद्धान्त्येकदेशिनं निराकरोति– एतेनेति।"

तर्क के स्वरूप को स्पष्ट करने के औचित्य पर प्रकाश डालते हुए वाचस्पति कहते हैं कि यदि तर्क संशय से च्युत और निर्णय तर्क में अप्राप्त होता है तो तर्क का स्वरूप कहना आवश्यक हो जाता है। वाचस्पति के शब्दों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

में– "यदि संशयात् प्रच्युतो निर्णयं चाप्राप्तः, तर्हि तस्य स्वरूपं वक्तव्यमिति।" तर्क के स्वरूप को व्यक्त करते हुए वार्त्तिककार कहते हैं कि दो विमर्शमानों में यह कहना कि 'यह प्रत्यय होना चाहिये' तर्क का स्वरूप है। इसकी व्याख्या करते हुए वाचस्पति कहते हैं कि प्रमाण के विषय के संदर्भ में प्रमाण को संभव कहना तर्क का स्वरूप है। "उत्तरम्– भवेदिति, प्रमाणविषयाभ्य–नुज्ञेत्यर्थः "। एतावता पीछे के विवरण से यह स्पष्ट है कि तर्क संशय और निर्णय से भिन्न है तथा वह अनुमान भी नहीं है। पीछे के इस विवरण को वार्त्तिककार निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं– "यत्तावान्निर्णयसंशयाभ्यां नोहो मिद्यत इति तन्न प्रत्ययस्वरूपानवबोधात्। अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे भवतीति सामान्येनाक्षिप्तो भवान्। सत्यमविज्ञाततत्त्वे भवतीति, न पुनः प्रत्ययस्वरूपं व्यज्ञायि भवता। अनवधारणात्मकः प्रत्ययः संशयः किं स्विदिति। अवधारणात्मकः प्रत्यय एवमिदमिति निर्णयः। अयं तु संशयात् प्रच्युतः कारणोपपत्तिसामर्थ्यात्। न संशये कारणोपपत्तिरस्ति। निर्णयं चाप्राप्तो विशेषादर्शनात्। विशेषदर्शनात् निर्णयों भवति। न चास्मिन् विशेषदर्शनमस्ति। एतानुमानं तर्क इत्येतदपि प्रत्युक्तं विशेषादर्शनादिति। किं पुनरस्य स्वरूपम्? भवेदित्येष प्रत्यय इत्येतदस्य स्वरूपमिति।"

कुछ एकदेशीय नैयायिक के अनुसार तर्क एक ऐसा अनुमान है जो युक्ति की अपेक्षा रखता है। इनके मत का निराकरण करते हुए वार्त्तिककार कहते हैं कि ये नैयायिक स्वयं भी अनुमान से तर्क का भेद करते हैं, तो पुनः तर्क को वे युक्त्यापेक्ष अनुमान कैसे कहते हैं। युक्ति के तीन लक्षणों की परीक्षा कर वार्त्तिककार अनुमान से तर्क का भेद करते हैं। (1) प्रमाणोपपत्ति अर्थात् प्रमाण का संभव होना युक्ति का लक्षण है, और वह प्रत्यय जो प्रमाणोपपत्ति की अपेक्षा रखता है तर्क कहलाता है। इस प्रकार यहाँ युक्ति और तर्क में केवल नाम मात्र का भेद है। वार्त्तिककार के इस मत को स्पष्ट करते हुए वाचस्पति कहते हैं कि प्रमाणोपपत्ति यहाँ युक्ति का लक्षण कहा गया है और प्रमाणोपपत्ति से जन्मा प्रत्यय ही तर्क कहलाता है। वह तर्क उनके द्वारा अनुमान कहा जाता है और हमारे द्वारा तर्क कहा जाता है। अतः यहाँ नाम मात्र का भेद है। वाचस्पति के शब्दों में– "युक्तिरिह प्रमाणोपपत्तिः। तज्जन्मा च प्रत्ययस्तर्क एव। स चानुमानमिति त्वयोच्यते। अस्माभिस्तु तर्क इति संज्ञाभेदमात्रमित्यर्थः।"

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

(2) इस कथन के विरोध में यह कहा जा सकता है कि प्रमाणोपपत्ति अर्थात् प्रमाण का संभव होना युक्ति का लक्षण नहीं है। ये नैयायिक युक्ति की अपेक्षा रखने वाले अनुमान को तर्क कहते हैं, अतः युक्त्यापेक्षा को स्पष्ट करना आवश्यक है। यहाँ यह कहा गया है कि प्रमाणोपपत्ति से अतिरिक्त युक्ति अनिरूपित रहता है और युक्ति अनिरूपित होने से अपेक्षा का सामर्थ्य (अर्थ) वक्तव्य है। युक्ति यहाँ अपेक्षणीय है और युक्ति को अनिरूपित होने से अपेक्षणीय के विना अपेक्षा का निरूपण संभव नहीं होता है। इस समस्या के समाधान में यह कहा जा सकता है कि अनुमान अपने विषय के ज्ञान में जो भी कुछ अपेक्षा करता है वह अपेक्षणीय अनुमान की युक्ति है। इस संदर्भ में वाचस्पति का कथन द्रष्टव्य है– "प्रसंगोपपत्त्यतिरिक्ताया युक्तेरनिरूपणाद् अपेक्षार्थो वक्तव्यः। न ह्यपेक्षणीयमन्तरेणापेक्षा शक्या निरूपयितुमिति भावः। ननु यदेव किञ्चित् स्वविषयाधिगमे अनुमानमपेक्षते सैवापेक्षणीय युक्तिरनुमानस्य भविष्यतीति।" इस समाधान के विरोध में वार्त्तिककार पूछते हैं कि अनुमान अपने विषय के ज्ञान में क्या अपेक्षा करता है, इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि अनुमान अपने विषय के ज्ञान में इतर प्रमाणों की अपेक्षा रखता है और इतर प्रमाण की अपेक्षा युक्ति कहलाती है। वे कह सकते हैं कि इस प्रकारक युक्ति की अपेक्षा रखने वाला अनुमान तर्क कहलाता है। अनुमान युक्त्यापेक्ष कहा गया है, और युक्ति इतरप्रमाणापेक्ष। इस तरह अनुमान इतर प्रमाणापेक्ष हो जाता है। यहाँ अनुमान इन इतर प्रमाणों से उपकृत होता है। अतः इन उपकार करने वाले प्रमाणों को स्पष्ट करना आवश्यक है। ये इतर प्रमाण प्रत्यक्ष और आगम है। यहाँ प्रश्न उठता है कि अनुमान प्रत्यक्ष और आगम से कैसे उपकृत होता है? और इन उपकार करने वाले प्रमाणों को स्पष्ट करना क्यूँ आवश्यक है? यहाँ दोनों प्रश्न एक दूसरे से सम्बन्धित है। प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा जा सकता है कि अनुमान तथा प्रत्यक्ष और आगम का विषय एक होता है, फलतः अनुमान, प्रत्यक्ष और आगम से उपकृत होता है। अनुमान अपने विषय के ज्ञान में इन्हीं इतर प्रमाणों की अपेक्षा रखता है। वाचस्पति उक्त कथन को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यदि उत्पत्ति में अनुमान प्रत्यक्ष और आगम की अपेक्षा रखता है, युक्ति की अपेक्षा नहीं रखता है, तो सब अनुमान का तथा प्रत्यक्ष और आगम का विषय एक होने से उनमें अव्यभिचार होता है। उस प्रकारक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अव्यभिचार भाव के कारण उन प्रमाणों को अपने–अपने वैशिष्ट्य का योग नहीं होता है। वैशिष्ट्य का योग नहीं होने से ही उपकार करने वाले इन प्रमाणों को स्पष्ट करना आवश्यक हो जाता है। वाचस्पति के शब्दों में– "यद्युत्पत्तौ प्रत्यक्षागमापेक्षमनुमानम् न वक्तव्यं युक्त्यपेक्षमिति, सर्वस्यानुमानस्य तथा भावेनाव्यभिचारेण विशेषणायोगादिति भावः।"

अब अनुमान का तथा प्रत्यक्ष और आगम का एक विषय है और उन प्रमाणों को अपने अपने वैशिष्ट्य का योग नहीं है तो अनुमान प्रत्यक्ष और आगम से कैसे उपकृत होता है तथा तर्क को अनुमान कैसे कहा जा सकता हैध इस समस्या का निराकरण करते हुए यह कहा गया है कि इस प्रकार भी तर्क अनुमान से भिन्न नहीं होना चाहिये। यह अनुमान का भेद है, और इस प्रकारक अनुमान के भेद का प्रमाण में ही अन्तर्भाव हो जाता है। अतः सूत्रकार को तर्क को वाद में पृथक् रूप से कहने की आवश्यकता नहीं है। इस पक्ष को व्यक्त करते हुए वाचस्पति लिखते हैं कि– "एवमपि तर्को नार्थान्तरं स्यात्। अनुमानभेदस्य चेदृशस्य प्रमाण एवान्तर्भाव इति भावः।"

इन नैयायिकों को उत्तर देते हुए वार्त्तिककार कहते हैं कि प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम का विषय एक हों तो विषय एक होने से तीनों प्रमाणों को एक होना चाहिये, परन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। अवधारण और प्रत्यय दोनों भिन्न होते हैं और दोनों को भिन्न होने से दोनों के दो भिन्न निमित्त होते हैं, जैसे कि प्रत्यक्ष और अनुमान से प्राप्त प्रत्यय के दो भिन्न निमित्त होते हैं। अवधारण का निमित्त प्रमाण और प्रत्यय का निमित्त तर्क होता है, और वे दोनों भिन्न हैं। अतः तर्क को युक्त्यापेक्ष अनुमान नहीं कहा जा सकता है, और वह अनुमान से भिन्न है। यही कारण है कि सूत्रकार तर्क को प्रमाण के पश्चात् स्वतंत्र रूप से रखते हैं। वार्त्तिककार उक्त कथन को निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं– "यैरप्यनुमानं युक्त्यपेक्षं तर्क इत्युच्यते, तैरप्यनुमानात् तर्कभेदः स्वयमेवोक्तः। युक्तिः प्रमाणोपपत्तिः। तामपेक्ष्यमाणो यः प्रत्ययः स तर्क इति केवलं संज्ञाभेदमात्रम्। अथ न प्रमाणोपपत्तिर्युक्तिः, अनुमानं युक्त्यपेक्षमित्यपेक्षा सामर्थ्यं वक्तव्यम्। स्वविषयाधिगमे चानुमानं किमपेक्षते? अथेतर प्रमाणापेक्षा युक्तिरित्युच्यते? एवमप्यनुग्रहार्थो वक्तव्यः। कथं प्रत्यक्षागमाभ्यामनुमानमनुगृह्यत इति। अथानुमानस्य प्रत्यक्षागमैकविषयत्वम् तत्रापि कः तर्कः? त्रीण्येतानि प्रमाणान्येकविषयतया प्रतिसंहितानीति भवेत्, अवधारण प्रत्ययौ भिन्ननिमित्तौ विशेषवत्त्वात् प्रत्यक्षानुमान प्रत्ययवत्।"

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इस पर ऐसे नैयायिक कह सकते हैं कि जिस प्रकार अनुमान लिंग और लिंगि (पक्ष) के सम्बन्ध की स्मृति की अपेक्षा से होता है उसी के तुल्य तर्क लिंग और लिंगि (पक्ष) के सम्बन्ध की अपेक्षा से होता है। फलतः तर्क अनुमान है। वाचस्पति इनके मत को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि विपर्यय नामक अनिष्ट प्रसंग व्यतिरेकी लिंग होता है। जैसे– 'यदि आत्मा उत्पत्तिमान् हो तो संसार और अपवर्ग नहीं होना चाहिये नामक अनुमान में 'उत्पत्तिमान्' एक व्यतिरेकि–लिंग है। इस अनुमान में उस लिंग का तथा आत्मा नामक लिंगि के बीच का सम्बन्ध का ग्रहण नहीं होता है। वह अगृहीत सम्बन्ध लिंगि में प्रवर्त नहीं होता है। पुनः 'जीवित शरीर आत्मा के विना नहीं होता है, यदि हो तो प्राणादिमान नहीं हो' जीवित शरीर और प्राणादिमान का सम्बन्ध स्मृति की अपेक्षा से होता है। इस प्रकार ये नैयायिक कहते हैं कि अनुमान के तुल्य तर्क लिंग और लिंगि के सम्बन्ध की स्मृति की अपेक्षा से तथा जीवित शरीर को अप्राणादिमान होने की समस्या से होता है। इसीलिये तर्क अनुमान ही है। इन नैयायि के मत को वाचस्पति निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं– "विपर्ययोऽनिष्टप्रसंगो व्यतिरेकि लिंगम्। तच्चागृहीतसम्बन्धं लिंगिनि न प्रवर्तत इति लिंगलिंगिसम्बन्ध–स्मृत्यपेक्षत्वादप्राणादिमत्त्वप्रसंगादितिवदनुमानमेवेत्यर्थः।"

इन नैयायिकों को उत्तर देते हुए वार्त्तिककार कहते हैं कि इन्हें तर्क के स्वरूप का ज्ञान नहीं होने से वे तर्क को अनुमान कहते हैं। वार्त्तिककार के अनुसार तर्क में लिंग और लिंगि दोनों के अज्ञात होने से तर्क लिंग और लिंगि के सम्बन्ध की स्मृति की अपेक्षा से नहीं होता है। जहाँ धर्मी (लिंगि) और साधन–धर्म (लिंग) दोनों ज्ञात होते हैं वहॉ अनुमान होता है। जहाँ पुनः धर्मी मात्र का ज्ञान होता है, लिंग का ज्ञान नहीं होता है, वह तर्क का विषय होता है। इसीलिये यह कहना कि तर्क लिंग और लिंगि के सम्बन्ध की स्मृति की अपेक्षा से होता है अनुचित है। वाचस्पति इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जीवित शरीर नामक धर्मी में प्राणादिमान् नामक साधन–धर्म के दर्शन से आत्मा का अनुमान युक्त है। परन्तु "यदि आत्मा उत्पत्तिमान् हो तो संसार और अपवर्ग की उपपत्ति न हो' नामक तर्क में आत्मा नामक धर्मी में उत्पत्ति साधन–धर्म है जिसके दर्शन से संस्कार के उद्‌बोध होने में लिंग और लिंगि के सम्बन्ध की स्मृति नहीं होनी चाहिये। अतः तर्क लिंग और लिंगि के सम्बन्ध

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

की स्मृति की अपेक्षा से नहीं होता है। वाचस्पति के शब्दों में– "युक्तं व्यतिरेकिणि जीवच्छरीरे धर्मिणि प्राणादिमत्त्वस्य साधनधर्मस्य दर्शनात्, न तु यद्युत्पत्तिमान् आत्मा अभविष्यत् संसारापवर्गावुपपत्स्येतामित्यत्रात्मनि धर्मणि साधन धर्म उत्पत्तिरस्ति यद्दर्शनतः संस्कारोद्बोधे सति लिंगलिंगिसम्बन्ध–स्मृतिर्भवेदिति।"

वार्त्तिककार अनुमान और तर्क में भेद करते हुए कहते हैं कि अनुमान धर्मीगत धर्म की उपलब्धि से होता है अर्थात् धर्मी में विद्यमान धर्म की उपलब्धि से होता है, परन्तु तर्क तो अन्य में विद्यमान धर्म के दर्शन से भी हो जाता है। जैसे– "इस देश में पुरुष होना चाहिये, क्योंकि यहाँ अश्व रहे हैं। अश्वों का रहना इस पुरुष से होना चाहिये।" अश्वों का रहना पुरुष का धर्म नहीं है। अन्य में विद्यमान धर्म की उपपत्ति से प्राप्त ऊह स्थाणु (ठूंठ) मात्र का व्यवच्छेद करता है और इससे जानते हैं कि इस देश में पुरुष होना चाहिये। इस प्रकार वार्त्तिककार यह सिद्ध करते हैं कि तर्क अनुमान से भिन्न है। वाचस्पति व्याख्या करते हुए कहते हैं कि तर्क में प्रयुक्त हेतु (प्रसंग हेतु) साध्य–धर्मी में केवल असिद्ध ही नहीं होता, अपितु अन्य में विद्यमान होता है। परन्तु अनुमान अन्य धर्मी में ज्ञात धर्म से नहीं होता है। इसीलिये अनुमान से तर्क का स्पष्ट भेद है। वाचस्पति की यह व्याख्या उनके शब्दों से स्पष्ट है– "न केवलं प्रसंगसाधनं साध्यधर्मिण्यसिद्धम्, अपि त्वन्यगतमेव प्रसंगहेतुः। न त्वनुमानमन्यगताद् धर्मात् प्रवर्तते, तस्मादनुमानादस्य स्फुटो भेद इति।"

वार्त्तिककार के अनुसार तर्क प्रमाणों को संपोषित करता है, इसीलिये सूत्रकार वाद में प्रमाणों के साथ तर्क का उल्लेख पृथक् रूप से करते हैं। तर्क विषय का परिच्छेद नहीं करता है अर्थात् वह विषय का यथार्थ निर्धारण नहीं करता है। वह अपरिच्छेदक है। अपने अपरिच्छेदकत्व के फलस्वरूप तर्क प्रमाण नहीं है। वार्त्तिककार अपने कथन को निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं– "अनुमानं तर्कः लिंगलिंगिसम्बन्धस्मृत्यपेक्षत्वात् अनुमानवदिति। न, तर्कस्वरूपानवबोधात्। नैव लिंगलिंगिसंबन्धस्मृत्यपेक्षस्तर्कः। कथमिति? द्वयस्यानधिगतेः। यत्र खलु द्वयमधिगम्यते धर्मी साधनधर्मश्च, तत्रानुमानं प्रवर्तते। यत्र पुनर्धर्मिमात्राधिगतिः, न लिंगाधिगतिरस्ति स तर्कविषयः। तस्मात् लिंगलिंगिसंबन्धस्मृत्यपेक्षत्वमयुक्तम्। अनुमानं च धर्मिगतधर्मोपलब्ध्या प्रवर्तते न पुनस्तर्कः। तर्कस्त्वन्यगतधर्मदर्शनेनापि प्रवर्तते, यथा भवितव्यमनेन पुरुषेण,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यथा अस्मिन् देशे अश्वा वाह्यन्त इति अश्ववाहनं न पुरुषधर्मः। सोऽयमन्यगतधर्मोपपत्त्या स्थाणुव्यवच्छेदमात्रमूह इति। सोऽयं तर्कः प्रमाणनि संधत्त इति प्रमाणसहितो वादेऽपदिष्टः, न पुनरयं प्रमाणमपरिच्छेदकत्वादिति।"

III

अभी तक प्रस्तुत तर्क विषयक चर्चा न्यायचतुर्ग्रंथिका पर आधारित थी। इसके आगे तर्क की अवधारणा का विकास उदयनाचार्य के हाथों हुआ है। उदयनाचार्य के तर्क विषयक मत को पूर्णता में समझने के लिये उनकी न्यायकुसुमाञ्जलिः में प्रस्तुत तर्क विषयक चर्चा का उल्लेख आवश्यक है। इस ग्रंथ में तर्क की चर्चा व्याप्ति–ग्रह में शंका–निवारक के रूप में किया गया है। उदयनाचार्य के इस मत का खंडन श्रीहर्ष अपने खंडनखंडखाद्यम् में करते हैं। आगे जाकर गंगेशोपाध्याय श्रीहर्ष के मत को खंडित कर उदयनाचार्य के मत को पुनः स्थापित करते हैं। न्यायकुसुमाञ्जलिः का प्रभाव परवर्त्ती नैयायिकों पर भी स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। न्यायकुसुमाञ्जलिः के तृतीय स्तवक की सातवीं कारिका में उदयनाचार्य कहते हैं कि व्याप्ति–ग्रह के क्रम में अतीन्द्रिय उपाधियों की शंका यदि हो तो अनुमान–प्रमाण निश्चित रूप से मानना होगा और यदि ये शंकायें नहीं हैं तो अनुमान सुतराम् है ही अर्थात् अनुमान को प्रमाण मानने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये। व्याघात की आशंका की सीमा वहीं तक जाती है जहाँ तक प्रवृत्त्यादि की अनुपपत्तियाँ उपस्थित न हों। वहीं आशंका की जाती है जिस आशंक्यमान में स्व–क्रिया का व्याघात नहीं होता है। जिस आशंक्यमान में स्वक्रिया का व्याघात हो जाता है वहाँ शंका नहीं करनी चाहिये। तर्क के द्वारा ही व्यभिचार की शंका का निरास किया जाता है। उदयनाचार्य के शब्दों में–

शंका चेदनुमास्त्येव न चेच्छंका ततस्तराम्।
व्याघातावधिराशंका तर्कः शंकाऽवधिर्मतः।।

कुछ लोग हेतु के व्यभिचारित्व को स्थापित कर अनुमान प्रमाण को अस्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि सद् हेतु को किसी भी देश और काल में व्यभिचरित नहीं होना चाहिये। व्यभिचरित होने से वह हेतु सद् हेतु नहीं कहा जा सकता है। चूँकि देश और काल अनन्त होते हैं, अतः इस संभावना को नकारा नहीं जा सकता कि किसी भी अन्य देश और काल में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हेतु का व्यभिचार न हो। सभी देश और कालों का प्रत्यक्ष नहीं होता है, अतः उन अप्रत्यक्ष देश और कालों में व्यभिचार की संभावना बनी रहती है। इसका प्रतिरोध नहीं हो सकता कि किसी भी देश और काल में धूम विना वह्नि के न हो। अतः हेतु में व्यभिचार की शंका होने से अनुमान संभव नहीं है। उदयनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार से हेतु के व्यभिचारित्व को स्थापित कर अनुमान प्रमाण को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। कालान्तर में व्यभिचार की आशंका भावी काल का आकलन करके ही करनी चाहिये। और वह आकलन अनुमान को अवधारित कर होना चाहिये, किसी अन्य को अवधारित कर नहीं। अनुमान प्रमाण को छोड़कर और किसी भी प्रमाण से यह आकलन संभव नहीं है। उदयनाचार्य के अनुसार भावी मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास और संवत्सरादि अनुमेय ही होते हैं। उनका आकलन अनुमान प्रमाण को माने विना नहीं हो सकता है क्योंकि वे प्रत्यक्ष प्रमाण से जानने योग्य नहीं है। जिस भावी देश और काल के संदर्भ के हेतुओं में व्यभिचार की आशंका का प्रश्न उठाया गया है, वे भावी देश और काल प्रत्यक्ष प्रमाण से ज़ानने योग्य नहीं हैं, अतः जो केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हैं वे भावी देश और काल के संदर्भ में हेतुओं में व्यभिचार की आशंका का प्रश्न नहीं उठा सकते। उनके अनुसार भावी देश और काल अलीक हैं। भावी देश और काल के संदर्भ में हेतुओं में व्यभिचार की आशंका का प्रश्न उठाने के लिये उन्हें अनुमान प्रमाण को मानना ही होगा। अतः यदि व्यभिचार की शंका है, तो अनुमान प्रमाण अवश्य है। स्मरण के आधार पर भी हेतुओं में भावी देश और काल में व्यभिचार की आशंका का प्रश्न नहीं उठाना चाहिये। भावी देश और काल में जिस हेतु की कल्पना करते हैं वह हेतु अनवगत होता है और अनवगत का स्मरण नहीं होता है क्योंकि स्मरण पूर्वानुभव से उत्पन्न होता है। भावी देश और काल में अनवगत हेतु अनाशंकनीय होते हैं, फलतः उनके अनाशंकनीय होने से स्मरण के आधार पर हेतुओं में व्यभिचार की आशंका नहीं की जा सकती है। अतः अनवगत में या अनाकलन में किसी भी आधार पर व्यभिचार की शंका नहीं करनी चाहिये। अतः अनुमान प्रमाण का स्वीकार अनिवार्य है। उदयनाचार्य के शब्दों में– "कालान्तरे कदाचिद्व्यभिचरिष्यतीति कालं भाविनमाकलय्य शंक्येत। तदाकलनञ्च नानुमानमवधीर्य कस्यचित्। मुहूर्तयामाऽहोरात्रपक्षमासर्त्वयन संवत्सरादयो हि भाविनो भवन्मुहूर्ताद्यनुमेया

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

एव। अनवगतेषु स्मरणस्याप्यनाशंकनीयत्वात्। अनाकलने वा कथमाश्रित्य व्यभिचारः शक्येत्? तथा च सुतरामनुमानस्वीकारः। एवञ्च देशान्तरेऽपि वक्तव्यम्।"

पूर्व पक्ष अनुमान स्वीकार करते हैं, परन्तु मैत्री भाव से पूछते हैं कि आशंका का निवारण कैसे होता है? उदयनाचार्य कहते हैं कि यावत् आशंका होती रहती है और तावत् तर्क भी चलता रहता है। वर्तमान तर्क से ही उपाधि–कोटि में या उस पर आश्रित व्यभिचार की कोटि में अनिष्ट की उपलब्धि की इच्छा को समाप्त किया जाता है। तर्क द्वारा प्रमाता को जब विपक्ष की इच्छा विच्छिन्न (समाप्त) हो जाती है, वह प्रमाता भूयोदर्शन से उपलब्ध लिंग और साध्य के साहचर्य को निर्धारित कर उसे लिंग के रूप में स्थापित करता है और स्थापित उस करण नाम लिंग से अनुमान नामक क्रिया की परिनिष्पत्ति होती है। अतः अनुमान नामक प्रमाण निर्विघ्न रूप से प्राप्त होता है और वह अनुपपन्न नहीं है। उदयनाचार्य अपने उक्त कथन को निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं– "स्वीकृतमनुमानम्, सुहृद्भावेन पृच्छामः कथमाशंका निवर्तनीया इति चेत्। न यावदाशंकं तर्कप्रवृत्तेः। तेन हि वर्तमानेनोपाधिकटौ तदायत्तव्यभिचारकोटौ वाऽनिष्टमुपनयतेच्छा विच्छिद्यते। विच्छिन्नविपक्षेच्छश्च प्रमाता भूयोदर्शनोपलब्धसाहचर्यं लिंगमनाकुलोऽधितिष्ठति, अधिष्ठिताच्च करणात् क्रियापरिनिष्पत्तिरिति किमनुपपन्नम् ?

पूर्व पक्ष का कहना है कि जिस तर्क से व्याप्ति सम्बन्ध की स्थापना में शंकाओं का निवारण किया जाता है, वह तर्क स्वयं भी अविनाभाव संबन्ध की अपेक्षा करके ही प्रवर्त्त होता है। अतः इस अविनाभाव सम्बन्ध की स्थापना में भी वे शंकायें उपस्थित होती हैं। पूर्व पक्ष के अनुसार इस शंका का पुनः तर्क से निराकरण होना चाहिये। पूर्व पक्ष के मत को स्पष्ट करने के लिये 'धूम यदि वह्निव्यभिचारी हों तो वह्निजन्य न हों' दृष्टान्त के रूप में लेना चाहिये। इस दृष्टान्त में धूम में वह्निव्यभिचारित्व के द्वारा धूम में वह्निजन्यत्वाभाव की आपत्ति उठायी जाती है। प्रस्तुत उदाहरण में 'वह्निजन्यत्वाभाव' आपाद्य और 'वह्निव्यभिचारित्व' आपादक है। यह आपत्ति तभी संभव है यदि आपादक और आपाद्य में नियत सामानाधिकरण्य हो अर्थात् दोनों में अविनाभाव हो। यदि आपादक और आपाद्य का अविनाभाव न मानें तो यह कहा जा सकता है कि धूम वह्निव्यभिचारी होने पर भी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वह्निजन्य हो सकता है। इस स्थिति में अनिष्टापत्ति रूप तर्क संभव नहीं होगा। इस तरह तर्क अविनाभाव की अपेक्षा रखता है। पुनः इस अविनाभाव में उपजित शंकाओं को निरस्त करने के लिये दूसरा तर्क, दूसरे के लिये तीसरा, और इस प्रकार तर्कों की एक शृंखला चलती है जिससे अनवस्था दोष आ जाता है। पूर्व पक्ष को व्यक्त करते हुये उदयनाचार्य लिखते हैं– "ननु तर्कोऽप्यविनाभावमपेक्ष्य प्रवर्तते, ततोऽनवस्था भवितव्यम्।"

उदयनाचार्य के अनुसार अनवस्था दोष का आरोप उचित नहीं है क्योंकि शंका से आपादित व्याघात की अपनी सीमा होती है। उस सीमा से परे शंका करना उचित नहीं है। सीमा से परे शंका करने से अपनी ही क्रिया का व्याघात हो जाता है। जहाँ अपनी क्रिया का व्याघात का दोष अवतरित नहीं होता है वहीं आशंका की जाती है। यही लोक–मर्यादा है। यदि धूम में वह्निजन्यत्व की शंका सीमा से परे हो तो धूम के लिये वह्नि लाने की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। और यदि ऐसी प्रवृत्ति होती है तो स्व–क्रिया का व्याघात होता है। अतएव वहीं शंका किया जाता है जिस अशंक्यमान में स्व–क्रिया के व्याघात नामक दोष का अवतरण नहीं होता है। सीमा से परे शंका करने से हेतु के फल का भाव नहीं होगा अर्थात् कारण–कार्य का भाव ही नहीं होगा। इस स्थिति में हम शंका करने के लिये भी सक्षम नहीं होते हैं। कारण–कार्य भाव में शंका हो तो शंका ही संभव नहीं है क्योंकि शंका भी विना कारण के नहीं होता है। सीमा से परे शंका करने से कारण–कार्य भाव नहीं होगा, और कारण–कार्य भाव नहीं होने में शंका उसी भाँति नहीं होनी चाहिये जिस भाँति 'कार्यकारणभावभंग' रूप हेतु से 'सर्व मिथ्या' रूप कार्य नहीं होना चाहिये। अतः तर्क को व्यभिचार–शंका का निवारक होने में तर्क में अनवस्था दोष नहीं होता है। उदयनाचार्य के अनुसार– "न शंकाया व्याघातावधित्वात्। तदेव ह्याशंक्यते, यस्मिन्नाशंक्यमाने स्वक्रियाव्याघातादयो दोषा नावतरन्तीति लोकमार्यादा। न हि हेतुफलभावो न भविष्यतीति शंकितुमपि शक्यते। तथा सति शंकैव न स्यात्, सर्व मिथ्या भविष्यतीत्यादिवत्।"

पूर्व पक्ष के अनुसार व्यभिचार शंका की निवृत्ति उस प्रकार से मान भी लें तथापि अतीन्द्रियोपाधि के निषेध में क्या प्रमाण है? इस प्रश्न के उत्तर में उदयनाचार्य कहते हैं कि अतीन्द्रियोपाधि के निषेध में कोई प्रमाण नहीं होता है क्योंकि प्रमाण से सिद्ध पदार्थ के अभाव में प्रमाण अन्वेषणीय होता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है, परन्तु कोई अतीन्द्रियोपाधि प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है, अतः उसके अभाव में प्रमाण अन्वेषणीय नहीं है। उदाहरण स्वरूप गगनकुसुम प्रमाण से सिद्ध नहीं है और न ही उसके अभाव में कोई प्रमाण है। उदयनाचार्य के अनुसार हेतु और साध्य के सामानाधिकरण्य में यही अन्वेषणीय है कि उस सामानाधिकरण्य का मूल हेतु और साध्य स्वयं है वा कोई अन्य। अर्थात् साहचर्य में हम अन्य निबन्धन मात्र की शंका करते हैं। अन्य निबन्धन की शंका ही उपाधि–शंका कहलाती है। जैसे कि धूम और वह्नि के सामानाधिकरण्य में यही अन्वेषणीय है कि दोनों के साहचर्य का मूल धूम और वह्नि स्वयं हैं वा आर्द्रेन्धन संयोग। यहाँ यही अन्वेषणीय है कि दोनों के सामानाधिकरण्य का मूल कोई अन्य तो नहीं है। यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि धूमवान् पर्वत क्या वह्नि से रहित हो सकता है ? यह विपक्ष की जिज्ञासा कहलाती है, और इस विपक्ष की जिज्ञासा के फलस्वरूप धूम और वह्नि की व्याप्ति का निर्णय नहीं हो पाता है। विपक्ष की जिज्ञासा निबन्धनान्तर की शंका का फल है।शंका फलतः (विपक्ष की जिज्ञासा) और स्वरूपतः नष्ट होना चाहिये। निबन्धनान्तर की शंका और विपक्ष की जिज्ञासा दोनों का ही विनाश अपेक्षित है। विपक्ष की जिज्ञासा को तर्क से आहत कर विनष्ट करते हैं। व्याप्ति निश्चय में किसी बाधा के नहीं होने से अनुमिति हो जाती है। अनुमान की प्रवृत्ति में शंका स्वरूपतः (निबन्धनान्तर की शंका) भी नष्ट हो जाती है। अतः कहे गये सभी कथन युक्त हैं। उदयनाचार्य के शब्दों में–"तथापि अतीन्द्रियोपाधिनिषेधे किं प्रमाणमित्युच्यतामिति चेत्, न वै कश्चिदतीन्द्रियोपाधिः प्रमाणसिद्धोऽस्ति, यस्याभावे प्रमाणमन्वेषणीयम्। केवलं साहचर्ये निबन्धनान्तरमात्रं शंक्यते। ततः शंकैव फलतः स्वरूपतश्च निवर्तनीया। तत्र फलमस्याविपक्षस्यापि जिज्ञासा तर्कादाहत्य निवर्तते। ततोऽनुमानप्रवृत्तौ शंकास्वरूपमपीति सर्वं सुस्थम्।"

चूँकि सूत्रकार तर्क को न्याय (अनुमान) के अंग के रूप में व्युत्पादित करते हैं तथा उसकी सोलह पदार्थों में गणना करते हैं। एतदर्थ इसका उल्लेख 'अवयव' के पश्चात किया गया है, अतः तर्क को अनुमान का अंग कहा गया है। सूत्रकार के इस अभिमत से स्पष्ट है कि तर्क आगम का विरोधी नहीं है। तर्क को अनुमान का अंग न मानें और उसे आगम का विरोधी मानें तो सूत्रकार द्वारा तर्क को सोलह पदार्थों में से एक कहना तथा उसका लक्षण

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

करना व्यर्थ हो जाता है। उदयनाचार्य अपने मंतव्य को संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जो तर्क व्याप्ति-- विरोधी व्यभिचार की शंका की निवृत्ति के लिये सक्षम है वह अनुकूल तर्क है और जिस हेतु में वह विद्यमान होता है वह हेतु 'प्रयोजक' कहलाता है। पुनःजिस हेतु में अनुकूल तर्क नहीं होता है वह 'अप्रयोजक' कहलाता है। अप्रयोजक हेतु शंकितोपाधि और निश्चितोपाधि के भेद से दो प्रकारक होते हैं। अन्त में उदयनाचार्य कहते हैं कि यावत् सौ अंशों में से एक अंश से भी अव्यतिरेकित्व शंकाग्रस्त है, तावत् हेतु में साध्य के ज्ञापन का सामर्थ्य नहीं होता है। अतः व्याप्ति में शंका का समावेश उसके शतांश में भी नहीं होना चाहिये। यहाँ न्यायकुसुमाञ्जलिः की पंक्ति द्रष्टव्य है– "न चैतदनागमम्, न्यायांगतया तर्कं व्युत्पादयतः सुत्रकारस्याभिमतत्वात्। अन्यथा तद्व्युत्पादनवैयर्थ्यात्। तदयं संक्षेपः–यत्रानुकूलतर्को नास्ति सोऽप्रयोजकः। स च द्विविधः शंकितोपाधिर्निश्चितोपाधिश्च। यत्रेदमुच्यतेया–वच्चाव्यतिरेकित्वं शतांशेनापि शंक्यते! विपक्षस्यकुतस्तावद्धेतोर्गमनिकाबलम्"

लेख के इस खण्ड में गौतम का न्यायसूत्र, वात्स्यायन का भाष्यम् उद्योतकर का वार्त्तिकम्, वाचस्पति की तात्पर्य टीका एवं उदयनाचार्य की परिशुद्धिः के आलोक में तर्क विषयक मतों का उल्लेख किया गया है। उदयनाचार्य के मत को पूर्णरूप से प्रस्तुत करने के लिये न्यायकुसुमाञ्जलिः का भी संदर्भ ग्रहण किया गया है। लेख के अग्रिम खण्ड में भासर्वज्ञ का न्यायभूषणम् तथा श्रीवल्लभाचार्य की न्यायलीलावती के संदर्भ में तर्क की चर्चा की गयी हैं।

IV

भासर्वज्ञ सूत्र में प्रयुक्त 'अविज्ञाततत्त्व' और 'कारणोपपत्तितः' पदों की व्याख्या करते हुए ऊह को स्पष्ट करते हैं तथा बाधक प्रमाण के आधार पर ऊह को तर्क का पर्याय कहते हैं। अविज्ञात–तत्त्व को स्पष्ट करते हुए भासर्वज्ञ कहते हैं कि दो विमृश्यमानों में जिस अर्थ का तत्त्व सामान्यतः जाना जाता है वह तत्त्व अविज्ञात–तत्त्व कहलाता है। तत्व का अविज्ञात होना तथा निर्णय का निमित्त होना अर्थ का विशेषण है। ये दोनों जिस अर्थ का विशेषण होता है उस अर्थ में प्रमांण संभव होता है। प्रमाण उसी अर्थ में संभव होता है जिस अर्थ के तत्त्व को हम सामान्यतः जानते हैं। वहाँ प्रमाण संभव होने से उस विमृश्यमान को स्वीकार करते हैं। साध्य के विपर्यय में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हेतु का बाधक होना वहाँ संभव है। यह बाधक–प्रमाण कहलाता हैं। तथा बाधक–प्रमाण संभव होने से ऊह तर्क का पर्याय होता है। व्याप्य का और व्यापक के बाध का निश्चय तर्क का कारण होता है। भासर्वज्ञ अपने से पूर्व के आचार्यों के मत का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि उनके अनुसार तर्क तत्त्वज्ञानार्थ होता है और तत्त्व–ज्ञान प्रमाण से होता है। उन पूर्वाचार्यों के अनुसार ऊह तत्त्व–ज्ञान के विषय का विवेचक होने से वह भी तत्त्वज्ञानार्थ होता है। ऊह के इस विवेचकत्त्व के आधार पर कहा गया है कि ऊह तत्त्वज्ञानार्थ होता है। ऊह का लक्षण प्रस्तुत करते हुये भासर्वज्ञ कहते हैं कि जो साधन (यथा 'धूम') अपने साध्य (यथा 'वह्नि') के प्रति यदि व्यमिचार करता है, अर्थात् घूम यदि वह्नि का व्यमिचार करता है,तो उस व्यमिचार के दर्शन से 'धूम वह्निजन्य नहीं 'होना चाहिये। साध्य का यह विषय ऊह होता है। सूत्रकार के अनुसार ऊह तत्त्वज्ञानार्थ मात्र होता है, परन्तु भासर्वज्ञ के अनुसार ऊह तत्त्व–ज्ञान के लिये होता है, पूर्व में उत्पन्न तत्त्व–ज्ञान के पालन के लिये होता है, जय–पराजय के तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के लिये होता है, तथा आत्म–दर्शन के लिये होता है। भासर्वज्ञ का यही वैशिष्टय उनको परम्परा से भिन्न कर देता है। ऊह के प्रयोजन को भासर्वज्ञ चार दृष्टियों से देखते हैं–ज्ञाता की प्रवृत्ति की दृष्टि से, वाद की दृष्टि से, शास्त्रार्थ में जय पराजय की दृष्टि से तथा पारम्पर्य की दृष्टि से। इन चार दृष्टियों से ऊह को देखने से चार प्रयोजन व्यक्त होते हैं जो भासर्वज्ञ को सूत्रकार से भिन्न करता है। भासर्वज्ञ के शब्दों में–''अविज्ञातं तत्त्वं निर्णयनिमित्तं यस्यार्थस्य सोऽविज्ञाततत्त्वः, तस्मिन्नर्थ कारणोपत्तित इति बाधक प्रमाणसंभवाद् ऊह तर्कपर्यायो भवति। स च तत्त्वज्ञानार्थः, तत्त्वज्ञानविषयविवेचकत्वादिति पूर्वाचार्याः। वयं पुनर्ब्रूमः– कारणोपपत्तिः–साधन सम्भावना, यत्साधनं स्वसाध्यं प्रति कदाचिदेव 'यदि व्यमिचरति, तद्दर्शनादनेन भवितव्यमिति साध्यविषयो भवत्यूहः। स च पुरूषप्रवृत्तिद्वारेण तत्त्वज्ञानार्थोऽपि भवति, तथा वादादिप्रवृत्ति–द्वारेण पूर्वोत्पन्नतत्त्वज्ञानपालनार्थो जयपराजयतत्त्वज्ञानस्योत्पत्यर्थश्च...... पारम्पर्योणात्मदर्शनार्थो भवति।''

भासर्वज्ञ का प्रभाव स्पष्टरूप से हमे श्रीवलभाचार्य पर देखने को मिलता है। न्यायलीलावती में श्रीवल्लभाचार्य भूषणकार के मतों का अनेक बार उल्लेख करते हैं। न्यायलीलावती में अनुमान को निरूपित कर अनुमान

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies, AAIS(USA)

में सहायक तर्क का निरूपण किया गया है। यहाँ दो प्रश्न उठता है–(1) तर्क क्या है, (2) और वह किस प्रकार अनुमान में सहायक है। इन्हीं दो प्रश्नों का उत्तर श्री वल्लभाचार्य अपने ग्रंथ में देते हैं। प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि व्याप्य रूप किसी एक धर्म की स्वीकृति में अनिष्टापादक किसी दूसरे धर्म की नियत प्राप्ति रूप तर्क कहलाता है। "अथ कस्तर्क : एकधर्माभ्युपगमे द्वितीयस्य नियतप्राप्तिरूपः। "यहाँ व्याप्य के आरोप में व्यापक का आरोप निश्चित रूप से प्राप्त होता है और यह आरोप जैसा कि श्री शंकर मिश्र कहते हैं कि आहार्य के उपर रक्षित है। "व्याप्यारोपाधीनो व्यापकारोप इति भावः। आरोपश्चासयमाहार्योपरिरक्षितः। "श्री वर्धमानोपाध्याय के अनुसार 'नियत' पद से दो घर्मों में व्याप्य–व्यापक भाव सूचित होता है" नियतेत्यनेन धर्मयोर्व्याप्यव्यापकभावःसूचितः।"

तर्क में अतिप्याप्ति दोष की समस्या उठाते हुए कहा गया है कि तर्क एक असदर्थानुमान है और इस असदर्थानुमिति में अतिव्याप्ति दोष है। व्यापक का अभाव होने से ज्ञात सम्बन्ध में तर्क व्याप्यारोप से व्यापकारोप नहीं कहा जा सकता है। जैसा कि हम जानते हैं कि शंख से भिन्न द्रव्य पीत होता है। प्रत्यक्षतः जानते हुए शंखत्व से शुक्ल की अनुमिति होती है। अब द्रव्य को शंखतया जानकर आरोप के आधार पर 'यह शंख पीला है शुक्ल नहीं' नामक जो अनुमिति है, उसमें अतिव्याप्ति दोष है। अतएव कहा गया है कि तर्क एक असदर्थानुमान है।

श्रीवर्धमानोपाध्याय कहते हैं कि" नन्वेतदसदर्थनुमितावतिव्याप्तम्। न च व्यापकाभाववत्तया ज्ञाते व्याप्यारोपात् व्यापकारोपः सः। या हि द्रव्यं शंखतयाऽवगम्य पीतः शंखोऽयं न तु शुक्ल इति प्रत्यक्षतोऽवगच्छतः शंखत्वाच्छुक्ल इत्यनुमितिः, तत्रातिव्याप्तिः" इस अतिव्याप्ति दोष का निराकरण करते हुए श्री शंकर मिश्र कहते हैं कि तर्क में व्याप्य के आरोप के अधीन व्यापक का आरोप होता है, परन्तु यह आरोप आहार्य के उपर निर्भर करता है। आहार्य के उपर निर्भर होने से इस असदर्थानुमिति में अतिव्याप्ति दोष नहीं है। उनके शब्दों में–"व्याप्यारोपाधीनो व्यापकारोप इति भावः। आरोपश्चायमाहार्य्योपरिरक्षितः तेनासदर्थानुमितौ नातिव्याप्तिः।" आहार्य जिस पर यह आरोप रक्षित है निश्चयात्मक मिथ्या ज्ञान का एक प्रकार है। निश्चयात्मक मिथ्याज्ञान अनाहार्य्य एवं आहार्य भेद से दो प्रकारक होते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वह्निमान् पर्वत में दूरत्वादिदोष के कारण 'वह्नयभाववान् पर्वतः' का मिथ्या–ज्ञान अनाहार्य्य रूप मिथ्या–ज्ञान है। परन्तु 'निर्वह्निः पर्वतः में वह्नि की असत्ता का ज्ञान रहते हुए भी 'पर्वतो वह्निमान्' कहते हैं तो निर्वह्नि पर्वत में हम वह्नि का ज्ञान होने की इच्छा करते हैं। यह इच्छा इस मिथ्या–ज्ञान का कारण है। यह इच्छाजन्य मिथ्या–ज्ञान आहार्य ज्ञान कहा जाता है। इच्छाजन्य वह्निजन्यत्वाभाव रूप ज्ञान आहार्य्य ज्ञान है क्योंकि वह धूम में वह्निव्यभिचारित्व स्वरूप हेतु के आरोपात्मक ज्ञान से उत्पन्न होता है। धूम में वह्निव्यमिचारित्व रूप हेतु अविद्यमान है किन्तु आरोप द्वारा कल्पित उस हेतु से वह्निजन्यत्वाभाव का आरोप किया जाता है। इस प्रकार व्यापक का यह आरोप आहार्य्य के उपर रक्षित होने से तर्क के इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष नहीं है। इस अतिव्याप्ति दोष के निराकरण के लिए श्री शंकर मिश्र तर्क के तीन और लक्षण प्रस्तुत करते हैं।

श्री शंकर मिश्र तर्क के दूसरे लक्षण की परिक्षा करते हुए कहते हैं कि 'मैं तर्क करता हूँ' की प्रतीति के साक्षी से सम्बन्ध रखने वाला जाति–विशेष ही तर्कत्व कहलाता है। उनके शब्दों में– "तर्कयामीतिप्रतीतसाक्षिको जातिविशेष एव वा तर्कत्वम्। स च सर्वत्र मानस एव।" तर्क इन्द्रिय से निरपेक्ष मनोजन्य होता है। फलतः कोई जाति–विशेष नहीं जो तर्क का लक्षण हो। तर्क के विषय में चाक्षुषत्व होता है। हम देखते हैं कि धूम वह्नि का व्यमिचारी नहीं है और वहाँ वह्निजन्यत्वाभाव नहीं है। अतः तर्क के विषय के चाक्षुषत्व के कारण उसे जाति–संकर कहना भी उचित नहीं है। तर्क के विषय का हमें अनुभव नहीं होता है, इसलिये इसे विलक्षण कहा गया है। पुनः तर्क के व्यवहार की उपपत्ति में प्रमाण का अभाव होता है। तर्क के विषय की विलक्षणता के अनुभव के फलस्वरूप तथा तर्क के व्यवहार की उपपत्ति में प्रमाण का अभाव होने के फलस्वरुप तर्क के विषय में चाक्षुषत्व होने से उसे जाति–संकर कहना उचित नहीं है। तर्कत्व को जाति–विशेष या जाति–संकर कहते हैं तो घटज्ञानत्व में भी जातित्त्व की आपत्ति उठनी चाहिये। इस समस्या के कारण तर्क का यह लक्षण भी मान्य नहीं है। इस समस्या को श्री वर्धमानोपाध्याय निन्न शब्दों में व्यक्त करते हैं–" नापि तर्कयामीति प्रतीतिसाक्षिको जातिभेदस्तल्लक्षणं इन्द्रियादिनिरपेक्षमनोजन्यत्वाच्च। न चाक्षुषत्वादिना जाति संकरः। तर्क विषयवैलक्षप्यानुभवात्। तत एव व्यवहाराद्युपपत्तौ तत्र मानाभावात्। अन्यथा घटज्ञानत्वादेरपि जातित्वापत्तेः।"

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

उक्त समस्या को ध्यान में रखते हुए श्री शंकर मिश्र तर्क का तीसरा लक्षण निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं–"यद्वा अव्यवस्थिताभ्युमानकोटयुपाधि–कानिष्टसत्त्वप्रतिसंधानं तर्कः । जैसा कि श्री भगिरथ ठक्कुर कहते हैं कि इस लक्षण में 'अनिष्टत्व' का अर्थ बाधितत्त्व से है तथा'अभ्युपगम्यमान' का अर्थ प्रतीति के विषय से है। "अत्रानिष्टत्वं बाधितत्त्वम्, 'अभ्युपगम्यमानत्वं च प्रतीतिविषयत्वम्।" पुनः प्रतीति के विषय व्यवस्थित (नियमानुकूल) और अव्यवस्थित हो सकते हैं। जैसे–'जहाँ–जहाँ धूम है, वहाँ–वहाँ वह्नि है' में धूम और वह्नि का सम्बन्ध प्रतीति का विषय है तथा वह व्यवस्थित (नियमाकूल) है। इसके विपरीत 'धूम यदि वह्निनव्यमिचारी हों तो वह्निजन्य न हों में 'धूम और वह्निनव्यामिचारित्व, तथा, धूम और वह्निजन्यत्वाभाव का सम्बन्ध प्रतीति का विषय हैं जो व्यवस्थित (नियमानुकूल) नहीं है। धूम में वह्निनव्यमिचारित्व तथा वह्जिन्यत्वाभाव नहीं होता है, इसीलिये प्रतीति के विषय को अव्यवस्थित कहा गया है। ऐसा प्रतीति का विषय एक कोटिक होते हैं, और ये कोटि उपाधि हैं और इस उपाधि से सम्बन्ध रखने वाला सत्त्व अनिष्ट (बाधित) होता है। जो इस बाधित (अनिष्ट) सत्त्व का निर्देश करता है वह तर्क कहलाता है। दूसरे शब्दों में जो अव्यवस्थित प्रतीति के विषय की कोटि नामक उपाधि से सम्बन्ध रखने वाले अनिष्ट सत्त्व का निर्देश करता है वह तर्क कहलाता है। वर्धमानोपाध्याय तर्क के इस लक्षण में उपाधिकत्व और अव्यवस्थितत्त्व की उपादेयता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि तर्क होने में उपाधिकत्व का होना आवश्यक है, और तर्क का हीनबलत्व स्थापित करने के लिये आपादक को अव्यवस्थित (नियम के प्रतिकूल) होना आवश्यक है। उपाधिकत्व नहीं होने से तर्क संभव नहीं है। यहाँ अव्यवस्थित प्रतीति का विषय नामक कोटि प्रयोजक या उपाधि है। तर्क में हम धूम में वह्निनव्यभिचारित्व के आरोप से वहाँ वह्निजन्यत्वाभाव का आरोप करते हैं। यह तर्क का हीन–बल कहलाता है क्योंकि धूम में वह्निनव्यभिचारित्व नहीं होता है और न वह्निजन्यत्वाभाव पाया जाता है। तर्क के इस हीनबलत्व के लिये आपादक को अव्यवस्थित होना आवश्यक है, अन्यथा आपादक के व्यवस्थित होने में आपाद्य के नहीं होने से आपादक और आपाद्य के तुल्यत्व में एक दूसरे का प्रतिबन्ध ही होना चाहिये, न कि आपादक का भंग। आपादक के व्यवस्थित होने का तात्पर्य है धूम में वह्निनव्यभिचारित्वाभाव

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

और इस स्थिति में धूम में वह्निजन्यत्वाभाव नहीं होता है। धूम में वह्निव्यभिचारित्वाभाव (व्यवस्थित आपादक) धूम में वह्निजन्यत्वाभाव का अवरोधक होता है। श्री वर्धमानोपाध्याय उक्त कथन को निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं– "तदुपाधिकत्वञ्च तस्मिन् सत्यावश्यकत्वम्, अव्यवस्थितत्वञ्च तस्य हीनबलत्वार्थम्। अन्यथापादकस्य व्यवस्थितौ तस्यापाद्यविरहेण तुल्यत्वे मिथः प्रतिबन्ध एव स्यान्नत्वापादकस्य भंगः।"

तर्क का चतुर्थ लक्षण प्रस्तुत करते हुए श्री शंकर मिश्र कहते हैं कि "व्याप्यारोपत्वावच्छिन्नकारणताप्रतियोगिकव्यापकतारोपो वा। "इस लक्षण का और अधिक स्पष्ट रूप में श्रीवर्धमानोपाध्याय प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि "व्याप्यारोपत्वावच्छिन्नकारणताप्रतियोगिककार्यताधिकरणव्यापकारोपस्तर्कः।" यहाँ 'अवच्छिन्न' और 'प्रतियोगी' पदों का सामान्य परिचय देना आवश्यक है। किसी भी पदार्थ का वह विशेष लक्षण जो अपने विहित विशिष्ट गुणों द्वारा उस पदार्थ को अन्य से पृथक् करे अवच्छेदक कहलाता है। अवच्छेदक से अवच्छेद्य अवच्छिन्न होता है। इस प्रत्यय का प्रयोग व्यावृत्ति के लिये, नियामक के रूप में, तथा समग्रता का बोध कराने के लिये होता है। पुनः 'प्रतियोगी' पद अभाव के विरोधी (जैसे कार्य अपने प्रागभाव का विरोधी होता है) तथा सम्बन्ध के सम्बन्धी के अर्थ में प्रयुक्त होता है। सम्बन्ध दो पदार्थों में होता है और उन दोनों पदार्थों की स्थिति को प्रतियोगी और अनुयोगी पदों से व्यक्त किया जाता है। जो जिस सम्बन्ध से कहीं आश्रित होता है वह उस सम्बन्ध का प्रतियोगी, तथा जो जिस संबंध का अनुयोगी होता है उसमें उस सम्बन्ध से प्रतियोगी आश्रित होता है। तर्क के इस लक्षण के अनुसार व्याप्यारोपत्व से अवच्छिन्न कारणता का प्रतियोगी से सम्बन्ध रखने वाला कार्यता के अधिकरण में व्यापक का आरोप तर्क कहलाता है। इन लक्षणों के अतिरिक्त कुछ लोगों का कहना है कि असदर्थानुमान में उस रूप के अनुसार कारणता नहीं होना तर्क कहलाता है। "असदर्थानुमाने च न तद्रूप्येण कारणतेत्यन्ये।"

एतावता तर्क के स्वरूप को स्पष्ट करने के पश्चात् श्रीवल्लभाचार्य तर्क के फल को स्पष्ट करने के लिये पूछते हैं कि (1) क्या विपक्ष की जिज्ञासा की निवृत्ति तर्क का फल है, वा (2) क्या साध्याभाव की शंका की निवृत्ति तर्क का फल है, वा (3) क्या साध्याभाव की न्यून कोटिक शंका वा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अन्यून कोटिक शंका को रोकना तर्क का फल है। श्रीवल्लभाचार्य के शब्दों में– "ननु किमेतस्य फलम्। विपक्षजिज्ञासानिवृत्तिः शंकानिवृत्तिर्वा तन्नयूनता वा।" इनके अनुसार इन तीनों में से किसी को भी तर्क का फल नहीं कहा जा सकता है। वे कहते हैं कि बार–बार हेतु और साध्य के सहचार–दर्शन के नियत अनुभव के व्यवस्थित हो जाने में संशय का अवकाश होने से नियत अनुभव का प्रामाण्य ही तर्क का फल है। तर्क सहचार दर्शन के निश्चित अनुभव का परिशोधक होता है, अतः तर्क के उस परिशोधकत्व के फलस्वरूप संशय का परिशोधन होता है, तथा सहचार–दर्शन के नियत अनुभव का प्रामाण्य सिद्ध होता है।" भूयः साहित्ये तु नियतसंवेदनव्यवस्थितौ तत्प्रामाण्य एव संदेहात्। तर्कस्य तदपनोदकत्वात्।"

श्री शंकर मिश्र के अनुसार प्रथम प्रश्न का तात्पर्य है कि क्या पक्ष में साध्याभाव कोटिक जिज्ञासा की निवृत्ति तर्क का फल है? "विपक्षेति पक्षे साध्याभावकोटिकजिज्ञासानिवृत्तिरित्यर्थः।" इस कथन को और अधिक स्पष्ट करते हुए श्री वर्धमानोपाध्याय कहते हैं कि अनुमिति से पहले यह संशय होता है कि पर्वत वह्निमान् है वा नहीं। इस संशय से स्वतंत्र रूप से दो कोटियाँ उपस्थित होती हैं : (1) पर्वत वह्निमान् है, और (2) पर्वत वह्न्यभाववान् है। अर्थात् साध्यवान् और साध्याभाव नामक दो कोटियाँ स्वतंत्र रूप से उपस्थित होती हैं। श्री वर्धमानोपाध्याय के अनुसार इस प्रश्न में यह पूछा गया है कि क्या संशय से स्वतंत्र रूप में उपस्थित दो कोटियों में साध्याभाव कोटिक विषय की जिज्ञासा की निवृत्ति तर्क का फल है? श्री वर्धमानोपाध्याय की इस व्याख्या के विरोध में पूर्व पक्ष समस्या उठाते हैं कि साध्याभाव का निश्चय अनुमिति को प्रतिबन्धित करता है, और इस प्रश्न की यह मान्यता है कि साध्याभाव की जिज्ञासा भी अनुमिति को प्रतिबन्धित करता है। यहाँ दोनों में भेद करते हुए पूर्व पक्ष का कहना है कि इस प्रश्न में साध्याभाव से अधिक ग्रहण किया गया है। श्री वर्धमानोपाध्याय पूर्व पक्ष से पूछते हैं कि इस भेद से पूर्व पक्ष को क्या लाभ है? इस प्रश्न के उत्तर में पूर्व पक्ष कहते हैं कि साध्याभाव के विषय में ही अनुमिति की प्रतिबन्धकता होने से साध्याभाव से अधिक ग्रहण करना व्यर्थ है। अपने पूर्व पक्ष को उत्तर देते हुए श्री वर्धमानोपाध्याय कहते हैं कि जिस प्रकार से साध्याभाव का निश्चय अनुमिति को प्रतिबन्धित करता है उसी प्रकार से साध्याभाव की जिज्ञासा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

होने में भी अनुमिति नहीं होनी चाहिये, अतः यह प्रश्न समीचीन है कि क्या साध्याभाव कोटिक विषय की जिज्ञासा की निवृत्ति तर्क का फल है। श्रीवर्धमानोपाध्याय के शब्दों में– "विपक्षेति। संशयात्स्वातन्त्र्योपस्थितोभयकोटौ साध्याभावकोटिगोचरजिज्ञासानिवृत्तिरित्यर्थः। ननु साध्याभावनिश्चयोऽनुमितिं प्रतिबध्नाति। ननु तज्जिज्ञासापि, तत्किं तद्विच्छेदेन, मैवम्। साध्याभावविषयत्वस्यैवानुमिति प्रतिबन्धकतयाधिकस्य व्यर्थत्वात्। तथा च साध्याभावजिज्ञासासत्त्वेऽपि नानुमितिः स्यादतस्तन्निवर्तनमेव तर्कफलमिति भावः।"

प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि विपक्ष की जिज्ञासा की निवृत्ति तर्क का फल नहीं है क्योंकि विपक्ष की जिज्ञासा की निवृत्ति अनुमान से ही सिद्ध है। "नाद्यः। अनुमानादेव तत्सिद्धेः।" श्री वर्धमानोपाध्याय इस उत्तर को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि विपक्ष (विरोधी) की जिज्ञासा ज्ञान–मात्र का प्रतिबन्धक नहीं है। उनके अनुसार घट के जिज्ञासु द्वारा आँख खोलने के उपरान्त पट का भी ज्ञान हो जाने से यह स्पष्ट है कि विपक्ष की जिज्ञासा ज्ञान मात्र का प्रतिबन्धक नहीं है। विपक्ष की जिज्ञासा अनुमिति का भी प्रतिबन्धक नहीं है, क्योंकि तृतीय लिंग–परामर्श के पश्चात् विपक्ष की जिज्ञासा के कारण अनुमिति में विलम्ब नहीं होता है। विपक्ष की जिज्ञासा होने में भी तृतीय लिंग–परामर्श के पश्चात् अनुमिति अविलम्ब हो जाती है। तृतीय लिंग–परामर्श को स्पष्ट करने के लिये यह कहना आवश्यक है कि व्याप्ति के ग्रहण से पहले महानस में होने वाला धूम का ज्ञान प्रथम लिंग–ज्ञान कहलाता है। इससे अग्नि का अनुमान नहीं होता है क्योंकि अभी तक व्याप्ति का निश्चय नहीं हुआ है। व्याप्ति के ग्रहण के पश्चात् महानसीय धूम भी अग्नि का अनुमापक नहीं है क्योंकि महानस में अग्नि का प्रत्यक्ष हो रहा है और वहाँ अग्नि का संशय नहीं है। जहाँ साध्य की सत्ता में संशय होता है वहीं अनुमान होता है। महानस में अग्नि की सत्ता में संशय नहीं है, अतः महानसीय धूम अग्नि का अनुमापक नहीं है। महानस में व्याप्ति–निश्चय के पश्चात् पर्वत में धूम का ज्ञान द्वितीय लिंग–ज्ञान है। इस द्वितीय लिंग–ज्ञान से भी अनुमिति नहीं होती है क्योंकि पर्वत में अग्नि की सत्ता का साधक या बाधक प्रमाण का अभाव है। वहाँ व्याप्ति का स्मरण नहीं हो रहा है, इसीलिये अनुमिति नहीं हो रही है। अनुमिति के लिये

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पर्वत में व्याप्ति का स्मरण आवश्यक है। व्याप्ति के स्मरण के पश्चात् हमें यह ज्ञान होता है कि अग्नि से व्याप्त धूम पर्वत पर विद्यमान है। यह लिंग का तृतीय ज्ञान है। इस तृतीय लिंग–ज्ञान को ही तृतीय लिंग–परामर्श कहा गया है और इसी को अनुमान कहते हैं। 'लिंगपरामर्शोऽनुमानम्' से यह स्पष्ट है कि लिंग–परामर्श ही अनुमान है। लिंग–परामर्श अनुमिति का करण है और उसके अनन्तर अविलम्ब अनुमिति होती है। इसी हेतु से श्री वर्धमानोपाध्याय कहते हैं कि तृतीय लिंग–परामर्श के पश्चात् विरोधी–जिज्ञासा (विपक्ष–जिज्ञासा) के कारण अनुमिति में कोई बाधा नहीं होती है और वह अविलम्ब हो जाता है। इसी तथ्य को व्यक्त करते हुए श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि विपक्ष की जिज्ञासा की निवृत्ति अनुमान से होती है, इसके लिये तर्क की आवश्यकता नहीं होती है। अतः विपक्ष की जिज्ञासा की निवृत्ति तर्क का फल नहीं है। श्री वर्धमानोपाध्याय अपने कथन को निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं– "अनुमानादेवेति। वस्तुतो विरोधी जिज्ञासा न ज्ञानमात्रप्रतिबन्धिका, घटजिज्ञासुना चक्षुरुन्मीलनान्तरं पटस्यापि ज्ञानात्। नाप्यनुमितेः। तृतीयलिंगपरामर्शानन्तरं विरोधीजिज्ञासयाऽनुमितौ विलम्बाभावात्।"

दूसरे प्रश्न में यह पूछा गया है कि क्या साध्याभाव की शंका की निवृत्ति तर्क का फल कहा जा सकता है,? इस प्रश्न को स्पष्ट करते हुए श्री वर्धमानोपाध्याय कहते हैं कि पक्षधर्मीक साध्य और साध्याभाव दोनों में संशय तुल्यवत् होने से यह प्रश्न किया गया है कि क्या एक स्थल में अर्थात् साध्याभाव स्थल में प्रमाण की प्रवृत्ति की संभावना का निरसन तर्क का फल है? "शंकेति। साध्यसाध्याभावयोस्तुल्यवत्संशयेनैकत्र प्रमाणप्रवृत्तिः संभवतीति तन्निंवर्त्तनमित्यर्थः।" श्रीवल्लभाचार्य के अनुसार साध्याभाव की शंका की निवृत्ति तर्क का फल नहीं कहा जा सकता है क्योंकि इस स्थिति में अनुमान व्यर्थ हो जाता है। उनके अनुसार साध्य एवं साध्याभाव दोनों में से साध्याभाव कोटिक शंका का निवारण हो जाने से साध्य निर्वाध रूप से प्राप्त हो जाता है और इस स्थिति में अनुमान व्यर्थ हो जाता है। इस हेतु से यह कहा गया है कि साध्याभाव कोटिक संशय की निवृत्ति तर्क का फ़ल नहीं है। शंका की निवृत्ति विषयक निश्चय के लिये भी तर्क को आवश्यक कहना ठीक नहीं है क्योंकि शंका–निवृत्ति विषयक निश्चय अनुमान से ही हो जाता है, अतः उसके लिये भी तर्क अपेक्षित नहीं है। "न द्वितीयः। अनुमानवैयर्थ्यात्। निश्चयार्थं तदिति चेत्। न। तत एव शंकानिवृत्तेरपि सिद्धेः।"

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तीसरे प्रश्न में यह पूछा गया है कि संशय के फलस्वरूप उपस्थित साध्य और साध्याभाव की कोटियों में साध्याभाव की न्यून कोटिक शंका वा अन्यून कोटिक शंका को रोकना तर्क का फल है,? इस प्रश्न को दूसरे शब्दों में व्यक्त करते हुए कहा गया है कि साध्याभाव साध्य की अनुमिति का प्रतिरोधक होता है अतः क्या साध्याभाव की न्यून कोटिक शंका वा अन्यून कोटिक शंका को रोकना तर्क का फल है जिससे कि प्रतिरोधक शक्ति न हो। इस प्रश्न को श्री शंकर मिश्र व्यक्त करते हुए कहते हैं कि क्या साध्याभाव कोटि से संबन्धित शक्ति के उत्कटकोटिकत्व को रोकना तर्क का फल है? "तन्नयूनतेति। साध्याभावकोटिकशक्तोत्कटकोटिकत्वनिवर्त्तनं वा तर्कफलमित्यर्थः।" श्री वर्धमानोपाध्याय इस प्रश्न को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि साध्याभाव कोटि में अनिष्ट के जुड़ने की क्रिया के कारण क्या उस कोटि का हीनत्व दिखाना तर्क का फल है? यहाँ साध्याभाव कोटि का हीनत्व अनिष्ट को जुड़ने से रोकता है– "तन्नयूनतेति। साध्याभावकोटाव–निष्टप्रसंजनेन तत्कोटेर्हीनत्वमित्यर्थः।"

श्रीवल्लभाचार्य के अनुसार साध्याभाव कोटि की न्यून शंका वा अन्यून शंका का निराकरण (रोकना) तर्क का फल नहीं है। उनके अनुसार न्यून वा अन्यून शंका का निराकरण अनुमान से हो जाता है। अनुमान में निराकरणत्व होता है अतः अनुमान के निराकरणत्व के कारण तर्क से साध्याभाव कोटि की शंका का न्यूनत्व वा अन्यूनत्व का निराकरण व्यर्थ हो जाने से साध्याभाव कोटि की न्यून शंका वा अन्यून शंका को रोकना तर्क का फल नहीं है – "न तृतीयः। न्यूनाया अन्यूनाया वा अनुमाननिवर्त्तनीयत्वेन तन्नयूनत्वापनयनवैयर्थ्यात्।" अतः श्रीवर्धमानोपाध्याय के अनुसार साध्याभावकोटि में न्यूनकोटिकशंका को रोकने के लिये भी अनुमान की आवश्यकता होने से इस कोटिक शंका को रोकना तर्क का फल नहीं है। यहाँ साध्याभाव कोटिक शंका के अन्तर्गत पुनः न्यूनकोटिक शंका और अन्यून कोटिक शंका का विभाजन किया गया है। "न्यूनाया इति। न्यूनकोटिशंका निवर्त्तनार्थमप्यनुमान–स्यावश्यकत्वादित्यर्थः।"

उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट है कि श्रीवल्लभाचार्य के अनुसार तर्क का फल न तो विपक्ष की जिज्ञासा की निवृत्ति है, न शंका की निवृत्ति है, और न साध्याभाव कोटिक न्यून शंका वा अन्यून शंका का नाश है। अतः प्रश्न

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

उठता है कि अनुमान प्रमाण में तर्क की क्या भूमिका है? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि तर्क परामर्शजन्य होने से अनुमान का अंग है। यह उत्तर श्रीवल्लभाचार्य को स्वीकार नहीं है। अपने मत को स्थापित करने के लिये वे दो युक्तियाँ देते हैं। पहली युक्ति तर्क के परामर्शाजन्यत्व पर आधारित है और दूसरी युक्ति परामर्श तथा परामृष्यमाण के भेद पर आधारित है। श्रीवल्लभाचार्य परामर्श को अनुमिति का करण नहीं मानते, वे परामृष्यमाण अर्थात् परामर्श के विषयभूत को अनुमिति का कारण मानते हैं। उनके समक्ष दो ही विकल्प था– पहला यह कि परामर्श को अनुमिति का करण मानकर तर्क को व्यापारतया अनुमान का अंग मान लें या पुनः परामर्श को अनुमिति का करण ही न माने। श्रीवल्लभाचार्य इन दोनों विकल्पों का परित्याग कर न्याय के वस्तुवादी विचारधारा का अनुसरण करते हुए परामर्श और परामृष्यमाण विषयभूत में भेद स्थापित कर परामर्श को छोड़कर परामृष्यमाण विषयभूत को अनुमिति का करण मानकर तर्क को अनुमान का अंग मानने से अस्वीकार करते हैं। यह विकल्प एक नयी समस्या को जन्म देती है जिसके अनुसार व्याप्ति विशेष पर आधारित हो जाती है और उसकी सार्वत्रिकता एवं सर्वकालिकता समाप्त हो जाती है। इस समस्या का निराकरण करते हुए श्रीवल्लभाचार्य प्राचीन एवं नव्य परंपरा के बीच सेतु का काम करते हुए कहते हैं कि अनुमिति में व्याप्य–ज्ञान मात्र प्रयोजक होता है न कि व्याप्य–विशेष का ज्ञान। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन नैयायिक ज्ञायमान लिंग को अनुमिति का करण मानते हैं न कि व्याप्यज्ञान मात्र को। जिन कारणों से नव्यनैयायिक प्राचीन नैयायिक के इस मत को दूषित करते हैं उन्हीं कारणों से प्रेरित होकर नव्य–न्याय के आगमन से पूर्व ही श्रीवल्लभाचार्य व्याप्य–ज्ञान मात्र को अनुमिति का प्रयोजक मानते हैं। तर्क को अनुमान का अंग कहने वाले श्रीवल्लभाचार्य की युक्तियों से आहत होकर कहते हैं कि अनुमान के अनुकूल व्याप्ति की उत्पत्ति में व्यभिचार–शंका की निवृत्ति के द्वार रूप से तर्क का उपयोग होने से तर्क अनुमान का अंग होता है। श्रीवल्लभाचार्य के अनुसार तर्क आहार्यारोप रूप मिथ्या ज्ञान होता है अतः यह युक्ति भी संगत नहीं है। आहार्यारोप रूप तर्क अनुमान का अंग नहीं होने से भी यह प्रश्न बना रह जाता है कि भूयोदर्शन की क्या उपादेयता है। श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि भूयोदर्शन से हेतु और साध्य के नियत अनुभव को व्यवस्थित किया

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जाता है और वहाँ संशय का अवकाश होने से तर्क का उपयोग विषय के परिशोधक के रूप में किया जाता है। आगे की चर्चा इसी योजना पर आधारित है।

तर्क का फल उक्त तीनों विकल्पों में से एक भी श्रीवल्लभाचार्य को स्वीकार नहीं है। अतः उनके लिये अनुमान प्रमाण में तर्क की भूमिका स्पष्ट करना आवश्यक था। यह कहा जा सकता है कि चूँकि अनुमान (तृतीय लिंग–परामर्श) अपने करणत्व रूप से व्यापारतया तर्क की अपेक्षा करता है इसीलिये तर्क अनुमान का अंग है। "ननु अनुमानं करणत्वेन व्यापारतया तर्कमपेक्षत इति चेत्।" यहाँ अनुमान का अर्थ तृतीय लिंगपरामर्श है जैसा कि श्रीवर्धमानोपाध्याय कहते है– "अनुमानमिति। तृतीयलिंगपरामर्ष इत्यर्थः।" तृतीय लिंग–परामर्श करणत्व रूप से अनुमिति रूप कार्य करता है। यहाँ व्यापार रूप से तर्क अपेक्षित है। तर्क यहाँ परामर्शजन्य है और अनुमान का अंग है। श्रीवल्लभाचार्य के अनुसार तर्क अनुमान का अंग नहीं है क्योंकि जिस तरह कुल्हाड़ी में दृढ़ मुट्ठी के बन्धन का व्यापार नहीं होने में छेदन कार्य नहीं होता है उस तरह तर्क–ज्ञान के विना लिंग से अनुमिति का नहीं होना नहीं देखा जाता है। तर्क–ज्ञान के विना हम लिंग से अनुमिति का होना देखते हैं, अतः तर्क अनुमान का अंग नहीं है। "ननु अनुमानं करणत्वेन व्यापारतया तर्कमपेक्षत इति चेत्। न। दात्रादौ दृढ़मुष्टिनिष्पीडनादिव्यापारव्यतिरेके छिदानुपपत्तिवत्तर्कज्ञानं विना लिंगादनुमितिव्यतिरेकादर्शनात्।" श्रीवर्धमानोपाध्याय इस युक्ति को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वस्तुतः व्याप्तिग्राहक वा विषयपरिशोधक तर्क परामर्शजन्य नहीं होता है। उनके अनुसार तर्क तो परामर्शाजन्यत्व होता है। अतः श्री वर्धमानोपाध्याय कुल्हाड़ी के उदाहरण को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि व्याप्तिग्राहक वा विषयपरिशोधक तर्क के परामर्शाजन्यत्व के आधार पर श्री वल्लभाचार्य तर्क को अनुमान का अंग नहीं मानते हैं। श्री वर्धमानोपाध्याय लिखते हैं– "दात्रादाविति। वस्तुतो व्याप्तिग्राहकस्य विषयपरिशोधकस्य वा तर्कस्य परामर्षाजन्यत्वान्नेदं युक्तमिति भावः।" उनके अनुसार तर्क के परामर्शाजन्यत्व के फलस्वरूप ही तर्क–ज्ञान के विना लिंग से अनुमिति का होना देखा जाता है। श्रीवल्लभाचार्य की द्वितीय युक्ति यह है कि परामर्श अनुमिति का करण ही नहीं है, पुनः व्यापार रूप से तर्क की अपेक्षा करना व्यर्थ है। श्रीवल्लभाचार्य परामर्श और परामृष्यमाण

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

(परामर्श का विषयभूत) में भेद करते हुए कहते हैं कि परामृष्यमाण (परामर्श का विषयभूत) हेतु ही अनुमिति का करण होता है। उनके अनुसार लिंग का अवान्तर–व्यापार उसका अपना ज्ञान होना चाहिये न कि तर्क। इस प्रकार श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि तर्क अनुमान का उपकारक नहीं है, और यह अनुमान का अंग नहीं कहा जा सकता है। श्रीवल्लभाचार्य के अनुसार– "स्वज्ञानं वा लिंगस्यावान्तरव्यापारः स्यात्तदनुपकारकं नेदमनुमानांगम्।" इसे स्पष्ट करते हुए श्रीवर्धमानोपाध्याय कहते हैं कि परामर्श का विषय भूत लिंग अनुमिति में करण होता है। उस कारण से अपने विषय के साथ परामर्श लिंग का व्यापार कहलाता है। जो तर्क को अनुमान का अंग कहते हैं वे तृतीय लिंग–परामर्श को अनुमिति में करण मानते हैं न कि परामर्श के विषयभूत लिंग को। वहाँ तृतीय लिंग–परामर्श अपने करणत्व रूप से तर्क का व्यापार रूप से अपेक्षा करता है परन्तु यहाँ परामर्श अपने विषय के साथ लिंग के व्यापार रूप से जाना जाता है। यद्यपि अनुमिति में लिंग का कारणत्व अतीत और अनागत लिंग के सामान्य से नहीं होता है तथापि अनुमिति में व्याप्य–ज्ञान मात्र प्रयोजक होता है न कि व्याप्य–विशेष का ज्ञान। और उस प्रकार से अतीत के लिंग के स्थल में धूमादि के प्रागभाव और ध्वंसाभाव दोनों का लिंगत्व होता है और उन दोनों का विद्यमानत्व होता है। इस प्रकार श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि तर्क अनुमान का अंग नहीं है। "स्वज्ञानं वेति। परामृष्यमाणं लिंगमनुमितौ करणं तेन लिंगस्य सविषयः परामर्शो व्यापार इत्यर्थः। यद्यप्यनुमितौ लिंगस्याऽतीताऽनागतसाधारण्येन कारणत्वमेव नास्ति तथाप्यनुमितौ व्याप्यज्ञानमात्रं प्रयोजकं न तु व्याप्यविशेषज्ञानम्। तथा चाऽतीतादिलिंगस्थले धूमादिप्रागभावध्वंसयोर्लिंगत्वं तयोश्च विद्यमानत्वमिति भावः।"

तर्क को अनुमान का अंग होने के विरोध में श्रीवल्लभाचार्य द्वारा प्रस्तुत युक्तियों के उत्तर में कहा गया है कि अनुमान के अनुकूल प्रतिबन्ध (व्याप्ति) की उत्पत्ति में व्यभिचार–शंका की निवृत्ति के द्वार रूप में तर्क का उपयोग होने से तर्क अनुमान का अंग है। "अत्रोच्यते। अनुमानानुकूलप्रति–बन्धनिश्चयोत्पत्तौ व्यभिचारशंकानिवृत्तिद्वारेणास्योपयोगात्। "श्री शंकर मिश्र 'निवृत्ति' के स्थान पर 'विरह' का प्रयोग कर उक्त कथन की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि व्याप्य और व्यापक का सहचार–दर्शन स्वयमेव व्याप्तिग्राहक नहीं होता है। व्याप्य और व्यापक का सहचार–दर्शन व्यभिचार की शंका से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

निवृत्त होना चाहिये। तर्क द्वारा व्यभिचार की शंका हटाकर उस व्यभिचार की शंका के विरह की सहायता प्राप्त कर सहचार-दर्शन व्याप्ति का ग्रहण करता है। अतएव कहते हैं कि व्यभिचार–शंका के विरह की सहायता प्राप्त सहचार–दर्शन व्याप्ति–ग्राहक होता है और वह व्यभिचार की शंका तर्क से हटाया जाता है। श्री शंकर मिश्र के शब्दों में– "अनुमानेति। व्यभिचारशंका–विरहसहकृतं सहचारदर्शनं व्याप्तिग्राहकं सा च तर्केणापनीयत इत्यर्थः।" श्री शंकर मिश्र की व्याख्या में यह प्रश्न अनुत्तरित है कि व्यभिचार–शंका का विरह तर्क से कैसे संभव है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री वर्धमानोपाध्याय कहते हैं कि तर्क से अनिष्ट दिखाते हुए व्यभिचार की शंका का अभाव दिखाया जाता है। तर्क से हम कहते हैं कि धूम यदि वह्निव्यभिचारी हों तो वह्निजन्य न हो। इस प्रकार धूम में वह्निव्यभिचारित्व की शंका का अभाव दिखाकर धूम को वह्निजन्य कहते हैं। श्री वर्धमानोपाध्याय इस युक्ति की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि इस युक्ति के अनुसार व्यभिचार की शंका के विरह की सहायता प्राप्त सहचार–दर्शन व्याप्ति का ग्राहक होता है, और वह शंका तर्क से निरस्त किया जाता है। अतः व्याप्ति के ग्रहण में तर्क का उपयोग होता है। "अनुमानानुकूलेति। व्यभिचारशंका– विरहसहकृतं सहचारदर्शनं व्याप्तिग्राहकम्, सा च तर्केणानिष्टमुपदर्शयता निवर्त्त्यत इति व्याप्तिग्रहे तर्कस्योपयोग इत्यर्थः।" इस प्रकार तर्क की भूमिका अनुमान के अंग के रूप में दिखाने का प्रयास किया गया है।

यह सही है कि तर्क विद्यात्मक अनुमिति के प्रकरण में प्रस्तुत किया जाता है, परन्तु वह स्वयं आहार्यारोप रूप मिथ्या ज्ञान होता है, क्योंकि तर्क का हेतु आरोपित और उसका विषय बाधित होता है। आरोप यहाँ निश्चयात्मक मिथ्या ज्ञान का वाचक है। निश्चयात्मक मिथ्या ज्ञान का आहार्य एवं अनाहार्य नामक दोनों प्रकारों का वर्णन किया जा चुका है, अतः यहाँ वक्तव्य नहीं है। धूम और वह्नि के साहचर्य में इच्छा से धूम में वह्निजन्यत्वाभाव का ज्ञान आहार्यारोप रूप है क्योंकि वह धूम में वह्निव्यभिचारित्व रूप हेतु के आरोप से उत्पन्न होता है। वास्तव में धूम में वह्निजन्यत्वाभाव का आरोप किया जाता है। धूम के वास्तविक रूप से विद्यमान वह्निजन्यत्व से वह्निजन्यत्वाभाव बाधित होता है। इसीलिये कहा गया है कि तर्क का हेतु आरोपित और विषय बाधित होता है। 'यदि' पद के अर्थ से भी तर्क का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आहार्यारोप रूप सिद्ध होता है। 'धूम यदि वह्निव्यभिचारी हों तो वह्निजन्य न हों' तर्क का एक उदाहरण है जहाँ 'यदि' पद के द्वारा धूम में वह्निव्यभिचारित्व और वह्निजन्यत्वाभाव नामक दो कोटियों को आकस्मिक रूप से आ जाने से एक को ग्रहण करने की इच्छा होती है। दोनों कोटियों के विषय भूतों को स्वीकार करना इष्ट नहीं है। दोनों में से किसी एक की सत्तानपेक्ष स्वीकृति मात्र इष्ट है। 'यदि' के इसी अर्थ के फलस्वरूप तर्क को आहार्यारोप रूप कहा गया है। अतः यह कहना अनुचित है कि अनुकूल व्याप्ति की उत्पत्ति में व्यभिचारशंका की निवृत्ति के द्वार रूप में तर्क का उपयोग होने से तर्क अनुमान का अंग है। श्रीवल्लभाचार्य के शब्दों में– "स चायमाहार्यरोपरूपः। आरोपितहेतुसमुत्थत्वात् बाधितविषयत्वाच्च। कोटिद्वयोपनिपाते चैककोटि–परिग्रहस्य यद्यर्थत्वात्।"

तर्क को अनुमान का अंग कहने के लिये यह कहा जा सकता है कि भूयो–दर्शन की अपेक्षा से कोई लाभ नहीं है क्योंकि तर्क द्वारा हेतु और साध्य के सहचार के एक दर्शन से ही व्याप्ति का ग्रहण हो जाता है। यह कहा गया है कि भूयो–दर्शन होने में भी व्यभिचार की शंका बनी रहती है और उस व्यभिचार की शंका का निरास तर्क से होता है। अतः जहाँ भूयो–दर्शन नहीं होता है वहाँ भी व्यभिचार की शंका की निवृत्ति तर्क से तुल्यत्व के आधार पर हो जाती है। अनौपाधिकत्व के निश्चय के लिये भी अनुकूल तर्क की ही आवश्यकता होती है, उसके लिये भी भूयो–दर्शन अपेक्षित नहीं है। इस प्रकार एक ही दर्शन से व्याप्ति का ग्रहण हो जाने से भूयो–दर्शन से लाभ नहीं है। "तथापि किं भूयोदर्शनापेक्षया, व्यभिचार सन्देहस्य तत्रापि सत्त्वात्। विपक्षे बाधकस्यैतदभावेऽपि तुल्यत्वात्। उपाध्यभावस्य चानुकूलतर्कवेद्यत्वादिति चेत्।" श्री शंकर मिश्र इस युक्ति की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि हेतु और साध्य के सहचार में व्यभिचार की शंका की निवृत्ति और व्याप्ति का ग्रहण एक दर्शन से विशिष्ट तर्क से ही हो जाता है, अतः भूयो–दर्शन से कोई लाभ नहीं है। श्री शंकर मिश्र के शब्दों में– "तथापीति। तर्कश्च व्याप्तिग्राहकः, स सकृद्दर्शनविशिष्ट एवेति किं भूयोदर्शनेनेत्यर्थः।" इस परिप्रेक्ष्य में श्रीवल्लभाचार्य एवं उनके ग्रंथ के टीकाकारों ने अनुमान में भूयो–दर्शन की उपादेयता स्पष्ट करते हुए तथा तर्क के अपनोदकत्व के आधार पर उसे परिशोधक के रूप में प्रस्तुत करते हुए अनुमान प्रमाण में उनकी भूमिका स्पष्ट करते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

व्यभिचार की शंका की निवृत्ति के लिये भूयो–दर्शन की आवश्यकता पर बल देने के लिये श्रीवर्धमानोपाध्याय कहते हैं कि हेतु और साध्य के एक बार देखे गये सहचार दर्शन में व्यभिचारी की साधारणता पायी जाती है, फलतः व्यभिचारी की साधारणता के कारण वह सहचार दर्शन व्यभिचार की शंका का धायक होता हैं वहाँ व्यभिचार की शंका का धायकत्व होने से उसके निरास के लिये भूयोदर्शन अपेक्षित है। "ननु तथापि सकृत्सहचारदर्शनस्य व्यभिचारिसाधारणतया व्यभिचारशंकाधायकत्वात्तन्निरासार्थं भूयोदर्शनापेक्षेति।"

भूयोदर्शन को व्यर्थ कहने वालों का कहना है कि पार्थिवत्व और लोहलेख्यत्व के सहचार के भूयोदर्शन में भी उन दोनों के सहचार में व्यभिचार होने से वह व्यभिचार की शंका का धायक होता है, फलतः भूयो–दर्शन से लाभ नहीं है। "भूयोदर्शनेऽपि पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोर्व्यभिचारात्तछंका–धायकत्वादित्यर्थः।" इसे स्पष्ट करते हुए श्री शंकर मिश्र कहते हैं कि इनके अनुसार जिस प्रकार से एक बार का दर्शन व्यभिचारी का सामान्य लक्षण होता है उसी प्रकार से पार्थिवत्व और लोहलेख्यत्व में भूयो दर्शन भी व्यभिचारी का सामान्य लक्षण होता है। कुछ भूयो–दर्शन या अपने स्थानों में अनेक बार होते हैं या यूँ ही दोनों (हेतु और साध्य) का अनेक दर्शन होता है। उन सब दर्शनों का वैशिष्टय है कि वहाँ सहानवस्थान का दर्शन होता है। तीन–चार भूयो–दर्शन के सहानवस्थान का दर्शन नामक सामान्य से व्यभिचार की शंका की निवृत्त की उपपत्ति नहीं हो पाती है। जब यह कहा जाता है कि हेतु और साध्य के सहचार का भूयो–दर्शन में भी व्यभिचार की शंका का धायकत्व होता है तो भाव यह है कि हेतु और साध्य के सहचार का सभी दर्शन उपलब्ध नहीं होता है जिससे कि यह कहा जा सके कि सहचार में व्यभिचार की शंका नहीं है। व्यभिचार की शंका की निवृत्ति के लिये सहचार का यावत दर्शन प्राप्त होना आवश्यक है। सहचार के तीन–चार दर्शनों के सहानवस्थान का दर्शन नामक सामान्य से व्यभिचार की शंका की निवृत्ति नहीं हो पाती है। इस प्रकार कहा गया है कि भूयोदर्शन से कोई लाभ नहीं है। श्री शंकर मिश्र के शब्दों में– "यथा सकृद्दर्शनं व्यभिचारिसाधारण्यं तथा पार्थिवत्वलौहलेख्यत्वादौ भूयोदर्शनमपि। किं च भूयांसि दर्शनानि भूयः स्वस्थानेषु दर्शनं वा भूयसां दर्शनं वा तत् सर्व्वं त्रिचतुरादिसाधारण्येन दर्शनानां सहानवस्थानदर्शनेन चानुपपन्नमिति भावः।"

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इस युक्ति के विरोध में यह कहा जा सकता है कि जिन स्थलों पर भूयो- दर्शन से व्यभिचार की शंका की निवृत्ति नहीं हो पाती है, जैसे कि पार्थिवत्व और लोहलैख्य में, उन्हीं स्थलों में व्यभिचार की शंका की निवृत्ति तर्क से होती है, अन्यथा तर्क के रहने पर भी व्यभिचार की शंका की निवृत्ति के लिये भूयो–दर्शन अपेक्षित है। इसीलिये भूयो–दर्शन को व्यर्थ कहना उचित नहीं है। इस युक्ति को सारहीन बताते हुए कहते हैं कि हेतु और साध्य के जिस सहचार का भूयो–दर्शन होता है वहाँ भी व्यभिचार की शंका की निवृत्ति तर्क से ही होती है, और जहाँ भूयो–दर्शन नहीं होता है वहाँ तुल्यत्व के आधार पर विपक्ष–बाधक तर्क से व्यभिचार की शंका की निवृत्ति होती है। विपक्ष–बाधक तर्क के अनुसार हेतु अपने विपक्ष में बाधक होता है। जब यह कहा जाता है कि हेतु को अपने विपक्ष में बाधक होने से व्यभिचार की शंका की निवृत्ति होती है तो भाव यह है कि हेतु और साध्य की कारणता भूयोदर्शनत्व से नहीं सहचारदर्शनत्व से ही होता है। "विपक्षे बाधकादिति। तथा च न भूयोदर्शनत्वेन कारणता, किन्तु सहचारदर्शनत्वेनैव।" तर्क ही आवश्यक होने से और लाघव होने से व्याप्ति–ग्राहक है, अतः भूयो–दर्शन से कोई लाभ नहीं है। और न यह कह सकते हैं कि भूयो–दर्शन के विना विपक्ष–बाधक तर्क अवतरित ही नहीं होता है क्योंकि व्युत्पन्न के प्रथम दर्शन में ही विपक्ष–बाधक तर्क अवतरित हो जाता है। अतः व्यभिचार की शंका की निवृत्ति के लिये भूयो–दर्शन अपेक्षित नहीं है। श्रीवर्धमानोपाध्याय इस युक्ति को निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं– "ननु विपक्षबाधकादभूयोदर्शनाविशेषेऽपि शंकानिवृत्तिः स्यादित्यत आह–विपक्षबाधकस्येति। आवश्यकत्वाल्लाघवाच्च तदेव व्याप्तिग्राहकमस्तु किं भूयोदर्शनेनेत्यर्थः। न च भूयोदर्शनं विना विपक्षबाधकस्तर्क एव नावतरति, व्युत्पन्नस्य प्रथम दर्शने तदवतारात्।"

भूयो–दर्शन के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि उपाधि के अभाव का ज्ञान व्याप्ति के ग्रहण के लिये आवश्यक है और वह भूयो–दर्शन से प्राप्त होता है, अतः भूयो–दर्शन व्यर्थ नहीं है। यहाँ यह कहा गया है कि उपाधि का अभाव अर्थात् अनौपाधिकत्व का ज्ञान भूयो–दर्शन से नहीं अपितु अनुकूल तर्क से होता है क्योंकि वह अनुकूल तर्क द्वारा ज्ञात होने के योग्य होता है अतः भूयो–दर्शन से कोई लाभ नहीं है। इस युक्ति की व्याख्या करते हुए श्री वर्धमानोपाध्याय कहते हैं कि अनौपाधिकत्व का ज्ञान व्याप्ति का ग्राहक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

होता है, और उसका ज्ञान उस देश–काल में वहाँ अवस्थित घटादियों के उपाधित्व की शंका के निरास में होना चाहिये। उस शंका का निरास किसी धर्म के साध्य का अव्यापक होने के ज्ञान से और किसी धर्म के साधन का व्यापक होने के ज्ञान से नहीं होना चाहिये। वे ज्ञान उपाधि की शंका के निरास के लिये पर्याप्त नहीं है। भूयो–दर्शन के पक्ष में यह कहा गया है कि उपाधित्व की शंका का निरास भूयो–दर्शन के विना नहीं होता है। अतः श्रीवल्लभाचार्य 'उपाधि के अभाव' का प्रयोग करते हुए कहते हैं कि उपाधि के अभाव को अनुकूल तर्क के ज्ञान का विषय होने से उपाधि के अभाव का ज्ञान अनुकूल तर्क से होता है। उपाधित्व की शंका के निरास के लिये यह आवश्यक है किसी धर्म को उस देश और काल में अवस्थित साध्य का व्यापक नहीं होना चाहिये तथा उस देश और काल में अवस्थित साधन का अव्यापक नहीं होना चाहिये, क्योंकि कोई धर्म साध्य का व्यापक होते हुए साधन का अव्यापक होने में उपाधि कहलाता है।

उपाधित्व की शंका के निरास के लिये यह आवश्यक है कि हेतु और साध्य के सहचार में कोई ऐसा धर्म नहीं हो जो साध्य का व्यापक होते हुए साधन का अव्यापक हो अतएव यहाँ औपाधिक सम्बन्ध का स्पष्टीकरण आवश्यक है। औपाधिक सम्बन्ध स्वभाविक सम्बन्ध नहीं होता है। जैसे 'जहाँ–जहाँ अग्नि है, वहाँ–वहाँ धूम है' एक औपाधिक सम्बन्ध है क्योंकि 'आर्द्रेन्धनसंयोग' यहाँ उपाधि है। आर्द्रेन्धन संयोग धूम (साध्य) का व्यापक और साथ–साथ अग्नि (साधन) का अव्यापक है। आर्द्रेन्धनसंयोग का धूम (साध्य) का व्यापक होना 'जहाँ–जहाँ धूम है, वहाँ–वहाँ आंर्द्रेन्धन संयोग है' से स्पष्ट है। पुनः हम यह नहीं कह सकते कि 'जहाँ–जहाँ अग्निमत्त्व है, वहाँ–वहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग हैं' इससे आर्द्रेन्धनसंयोग का अग्नि (साधन) का अव्यापक होना स्पष्ट होता है। जहाँ–जहाँ 'अग्नि' रूप साधन होता है, वहाँ–वहाँ 'आर्द्रेन्धनसंयोग' नियमित रूप से नंहीं होता है। जैसे–अग्नि से तप्त लौह पिंड में अग्नि रूप साधन के विद्यामन रहने पर भी 'आर्द्रेन्धनसंयोग' नहीं रहता है। अतः 'आर्द्रेन्धनसंयोग' में अग्नि रूप साधन की अव्यापकता है। इसीलिये 'आर्द्रेन्धनसंयोग' को उपाधि कहा गया है। इससे यह कहा जा सकता है कि जो साध्य का व्यापक होते हुए साधन का अव्यापक होता है उपाधि कहलाता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जो यह कहते हैं कि उपाधित्व की शंका का निरास भूयो–दर्शन के विना नहीं होता है उनके विरोध में भूयोदर्शन को व्यर्थ कहने वाले युक्ति देते हैं कि उपाधि प्रत्यक्ष–योग्य (योग्योपाधि) एवं प्रत्यक्षायोग्य (अयोग्योपाधि) भेद से दो प्रकारक होते हैं। इनमें योग्योपाधि का ग्रहण प्रत्यक्ष से होता है, परन्तु अयोग्योपाधि का ग्रहण प्रत्यक्ष से नहीं होता है। योग्योपाधि अनुपलब्ध रूप नहीं होता है, इसीलिये योग्योपाधि की अनुपलब्धि का अग्राह्यत्व होता है। योग्योपाधि की अनुपलब्धि अग्राह्य होने से उसकी अनुपलब्धि उस योग्योपाधि के अभाव की ग्राहिका होती है। उदाहरण स्वरूप 'आर्द्रेन्धनसंयोग' उपलब्ध रूप योग्योपाधि है। इसका अनुपलब्ध रूप नहीं होता है। योग्योपाधि का अनुपलब्ध रूप नहीं होने से इसकी अनुपलब्धि अग्राह्य होती है। फलतः आर्द्रेन्धनसंयोग की अनुपलब्धि उसके अभाव की ग्राहिका है और इस अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है। परन्तु अयोग्योपाधि प्रत्यक्षायोग्य होने से अनुपलब्ध रूप होता है। अनुपलब्ध रूप होने से इस अनुपलब्धि को इसके अभाव की ग्राहिका नहीं कही जा सकती है। फलतः इसके अभाव के ज्ञान को अनुमानाधीन कहा जा सकता है। परन्तु अनुमानाधीन के ज्ञान से अनवस्था की आपत्ति उठ जाती है क्योंकि एक अनुमान की उपाधि के निरास के लिये दूसरा, दूसरे अनुमान की उपाधि के निरास के लिये तीसरा अनुमान आवश्यक होता है, और इस प्रकार अनवस्था दोष आ जाता है। इस अनवस्था दोष से बचने के लिये अनुकूल तर्क की आवश्यकता होती है। अनुकूल तर्क की आवश्यकता होने से वही अनौपाधिकत्व का निश्चय करता है और इस प्रकार भूयो–दर्शन से कोई लाभ नहीं है। श्री वर्धमानोपाध्याय इस युक्ति को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि– "ननु चानौपाधिकत्वज्ञानं व्याप्तिग्राहकं तद्देशकालतत्रावस्थितघटादीनामुपाधित्वशंकानिरासे स्यात्। तच्छंकानिरासश्च कस्यचित् साध्याव्यापकत्वज्ञानात्, कस्यचित् साधनव्यापकत्व ज्ञानान्न स्यात्। तच्च न भूयोदर्शनं विनेत्यत आह–उपाध्यमावस्य चेति। अयोग्योपाध्यभावस्य योग्यानुपलब्ध्यग्राहयत्वेनानुमानाधीनज्ञानत्वेनानवस्था पत्तेरनुकूलतर्कस्यावश्यकतया तत एवानौपाधिकत्वनिश्चय इत्यर्थः।"

परन्तु भूयो–दर्शन को व्यर्थ कहना अनुचित है क्योंकि अखिल रूप से साधन का साध्य के साथ सहचार व्याप्ति है, और वह अखिलत्व भूयो–दर्शन से प्राप्त होता है। यह युक्ति दी जाती है कि प्रथम दर्शन से भी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

व्याप्ति–ग्रह हो जाता है और उस प्रकार से भी हमें व्याप्ति के सम्पादन में संशय नहीं होना चाहिये। अतः भूयो–दर्शन अपेक्षित नहीं है। यह युक्ति न्यायलीलावती में प्रयुक्त 'प्रथमतः' पद की व्याख्या से स्पष्ट है।" प्रथमत इति। यद्यपि प्रथमदर्शनमात्रेणापि व्याप्तिग्रहोऽनुपलम्भबाधित एव, तथापि तत् कल्पने तदुत्तरं व्याप्तिसंशयो न स्यादेवेत्यर्थः।" यह कहना कि भूयोदर्शन व्यर्थ है और प्रथम सहचार दर्शन से ही व्याप्ति का ग्रहण हो जाता है उचित नहीं है, क्योंकि प्रथम सहचार दर्शन से नियत सहचार के अनुभव का अभाव होता है। अनेकानेक बार सहचार दर्शन से ही व्याप्ति का निश्चय अनुभव सिद्ध होता है। भूयो–दर्शन को व्याप्ति का निर्णायक न मानें तो प्रथम सहचार दर्शन के बाद व्यभिचार–शंका की उपपत्ति नहीं होनी चाहिये। परन्तु प्रथम सहचार दर्शन के पश्चात् व्यभिचार की शंका की उपपत्ति होती है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि व्याप्ति का ग्रहण तो प्रथम दर्शन से ही हो जाता है, परन्तु व्यभिचार की शंका का निरास भूयो–दर्शन से होता है। "ननु व्याप्तिग्रहः प्रथमदर्शनत एव, व्यभिचारशंका तु भूयोदर्शनापनेयेत्यत आह– ब्राह्मणत्वेति।" इस आक्षेप के उत्तर में भूयोदर्शन को व्याप्ति–ग्रह के लिये आवश्यक मानने वाले कहते हैं कि भूयो–दर्शन व्याप्ति का निश्चायक न हो तो विभिन्न ब्राह्मणों में ब्राह्मणत्व और विभिन्न रत्नों में रत्नत्व के सादृश्यों का ब्राह्मणत्व और रत्नत्व प्रकार से अवभास होने में प्रथम दर्शन ही पर्याप्त होगा, और उत्तर काल के भूयो–दर्शन को विपरीत शंका मात्र का निरास करने के आपत्ति उठ जायेगी। इसीलिये कहा गया है कि भूयो–दर्शन से हम हेतु और साध्य के अनेक सहचार में उन दोनों के साहचर्य का निश्चित अनुभव व्यवस्थित करते हैं। यहाँ आक्षेप किया जाता है कि भूयो–दर्शन के बाद भी संशय रह जाता है जैसे कि निम्न पंक्ति से स्पष्ट है– "ननु भूयोदर्शनानन्तरमपि संशयतादवस्थ्यमिति।" इसी आक्षेप के उत्तर में कहा गया है कि हेतु और साध्य के अनेक सहचार में उन दोनों के साहचर्य का निश्चित अनुभव व्यवस्थित हो जाने में उन दोनों के नियत अनुभव के प्रामाण्य में संशय का अवकाश होने से तर्क का उपयोग उसके परिशोधकत्व के आधार पर किया जाता है। व्याप्ति–निर्णय में तर्क परिशोधक का कार्य करता है और इसी हेतु से अनुमान–प्रमाण में उसका निरूपण किया गया है। इस युक्ति को श्रीवल्लभाचार्य निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं– "मैवम्। प्रथमतो नियतसंवेदना–

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भावात्। अन्यथोत्तरत्र संदेहानुपपत्तेः। ब्राह्मणत्वरत्नत्वसादृश्यानां तथा सत्यवभासे उत्तरकाले प्रचुरदर्शनस्य विपरीतशंकामात्रविच्छेदफलतापत्तेः। भूयः साहित्ये तु नियतसंवेदनव्यवस्थितौ तत्प्रामाण्य एव सन्देहात्। तर्कस्य तदपनोदकत्वात्।"

सारांश रूपेण यह कहा जा सकता है कि विपक्ष की जिज्ञासा की निवृत्ति को, विपर्यय की आशंका की निवृत्ति को, और साध्याभाव कोटि की न्यून शंका वा अन्यून शंका की शैथिल्यता स्थापित करने को श्रीवल्लभाचार्य तर्क का फल नहीं मानते हैं। उनके अनुसार तो व्याप्ति-निर्णय में तर्क परिशोधक का कार्य करता है। श्रीवल्लभाचार्य प्रथम विकल्प को तर्क का फल नहीं मानकर उदयनाचार्य के मत को खंडित करते हैं। उदयनाचार्य के अनुसार तर्क से साध्याभाव प्रकारक विपक्षेच्छा का निराकरण किया जाता है। हेतु और साध्य के सहचार में यावत् आशंका होती है, तब तक तर्क की प्रवृत्ति होने से उस वर्तमान तर्क से ही अनिष्ट की उपलब्धि उपाधि कोटि में या उस पर आश्रित व्यभिचार कोटि में साध्याभाव प्रकारक विपक्षेच्छा का निरास करता है। जब तक व्यभिचार की शंका चलती है, तब तक तर्क भी उनको विनष्ट करने के लिये चलता है। तर्क अपनी विद्यमानता के द्वारा अपने अनिष्टापत्ति स्वरूप से पक्ष विशेष्यक साध्याभाव प्रकारक निश्चय की इच्छा को विनष्ट करता है। तर्क के द्वारा जब विपक्षेच्छा का विनाश प्रमाता पुरुष में हो जाता है, तब उस प्रमाता पुरुष को जिस प्रकार की व्याप्ति का ज्ञान अपेक्षित रहता है, वह निर्विघ्न रूप से प्राप्त होता है। तर्क के फल को व्यक्त करते हुए उदयनाचार्य लिखते हैं– "स्वीकृतमनुमानम्, सुहृद्भावेन पृच्छामः कथमाशंका निवर्तनीया इति चेत्। न यावदाशंकं तर्कप्रवृत्तेः। तेन हि वर्तमानेनोपाधिकोटौ तदायत्तव्यभिचारकोटौ वाऽनिष्टमुपनयतेच्छा विच्छिद्यते। विच्छिन्नविपक्षेच्छश्च प्रमाता भूयोदर्शनोपलब्धसाहचर्यलिंगमनाकुलोऽधितिष्ठति, अधिष्ठिताच्च करणात् क्रियापरिनिष्पत्तिरिति किमनुपपन्नम्।" श्रीवल्लभाचार्य प्रथम विकल्प को अस्वीकार कर उदयनाचार्य के उक्त मत का खंडन करते हैं।

दूसरे विकल्प को अस्वीकार कर श्रीवल्लभाचार्य वाचस्पति के मत का खंडन करते हैं। वाचस्पति के अनुसार तर्क से विपर्यय की अशंका का निरास होता है। वे कहते हैं कि प्रमाण जिस विषय में प्रवर्त होने के लिये उद्यत होता है, उस विषय के विपर्यय की आशंका में प्रमाण तावत प्रवर्त नहीं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

होता यावत अनिष्टापत्ति से विपर्यय की आशंका का निरास नहीं हो जाता है। विपर्यय की आशंका के निरास से ही प्रमाण अपने विषय में संभव होता है। "यस्मिन् विषये प्रमाणं प्रवर्तितुमुद्यतं तद्विपर्ययाशंकायां न तावत् प्रमाणं प्रवर्तते, न यावदनिष्टापत्त्या विपर्ययाशंका अपनीयते। तदपनय एव च स्वविषये प्रमाण संभव इति।"

श्रीवल्लभाचार्य तीसरे विकल्प को अस्वीकार कर जयन्त भट्ट के मत का खंडन करते हैं। जयन्त भट्ट के अनुसार साध्याभाव कोटिक इतर पक्ष की न्यून वा अन्यून कोटिक शंका को शिथिल करना तर्क का फल है। उनके अनुसार सामान्यतः ज्ञात धर्मी में एक पक्ष के अनुकूल प्रमाण का दर्शन होने से उसमें होने वाला संभावना प्रत्यय अर्थात् भवितव्यता का अवभास होने पर तद्–ग्राहक प्रमाण को अनुग्रहित कर उससे इतर पक्ष की न्यून वा अन्यून कोटिक शंका की शिथिलता के सम्पादनार्थ उन प्रमाणों को तत्त्वज्ञान के लिये प्रवृत्त कराने वाला ऊह तर्क कहलाता है। "अविज्ञातत्त्वे सामान्यतो ज्ञाते धर्मिण्येकपक्षानुकूलकारणदर्शनात् तस्मिन् संभावनाप्रत्ययो भवितव्यताव–भासस्तदितरपक्षशैथिल्यापादने तद्ग्राहकप्रमाणमनुगृह्यतान् सुख प्रवर्त्तयस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्क इति।" तर्क के इस लक्षण में जयन्त भट्ट तर्क के फल को स्पष्ट करते हैं तथा श्रीवल्लभाचार्य इसे तर्क का फल नहीं मानकर अपनी मौलिकता का परिचय देते हैं।

V

लेख के इस खंड में नव्य–परंपरा के प्रणेता श्री गंगेशोपाध्याय की तत्त्वचिन्तामणि के संदर्भ में तर्क की अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। भारतीय चिंतन–परंपरा के इतिहास में श्रीगंगेशोपाध्याय एक ऐसे चिन्तक हैं जिन्होंने अपने अनुवर्त्ती आचार्यों को सर्वाधिक प्रभावित किया है। भारतीय वाङ्मय में गंगेशोपाध्याय का प्रभाव इसी से स्पष्ट है कि भारतीय तर्क–शास्त्र, व्याकरण, काव्यशास्त्र और अन्यान्य भारतीय साहित्य के आचार्यों ने गंगेशोपाध्याय की परिष्कार–पद्धति एवं पदावलियों का प्रयोग कर अपने विषयों को स्पष्ट करने का प्रयास किया हैं। तत्त्वचिन्तामणि में व्याप्तिग्रहोपाय के तत्काल बाद तर्क पर विचार किया गया है। व्याप्ति–ग्रह के क्रम में व्यभिचार की शंका का निराकरण हम तर्क से करते हैं, अतएव व्याप्तिग्रहोपाय से यहाँ आरम्भ किया जा रहा है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

श्रीगंगेशोपाध्याय व्याप्ति–ग्रह के उपाय का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि व्यभिचार के ज्ञान के विरह से सहायता प्राप्त साधन और साध्य का सहचार–दर्शन ही व्याप्ति–ग्राहक होता है। साधन और साध्य का सहचार–दर्शन जिससे व्याप्ति का ग्रहण होता है व्यभिचार की शंका से विरह होना चाहिये। 'व्यभिचार के ज्ञान से विरह' में ज्ञान पद निश्चय और शंका दोनों का बोधक होता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि व्यभिचार की शंका की उत्पत्ति कैसे होती है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि व्यभिचार की शंका की उत्पत्ति कभी उपाधि के सन्देह से और कभी विशेष के अदर्शन से विशिष्ट साधारण–धर्म के दर्शन से होता है। दूर से किसी ऊर्ध्व वस्तु को देखकर यह शंका होती है कि वह स्थाणु है वा पुरुष। यह शंका दोनों के साधारण–धर्म मात्र का दर्शन होने से होती है। यहाँ विशेष–धर्म का दर्शन नहीं हो रहा है। विशेष–धर्म के दर्शन से विशिष्ट साधारण–धर्म के दर्शन होने से इस प्रकारक शंका का निरास स्वतः सिद्ध होता है। व्यभिचार के ज्ञान से विरह होने का ज्ञान कहीं विपक्षबाधकतर्क से होता है। उपाधि के सन्देह से धूम और वह्नि के सहचार में उत्पन्न शंका का निरास करने के लिये कहते हैं कि धूम यदि वह्निव्यभिचारी हो तो वह्निजन्य न हो, धूम वह्निव्यभिचारी नहीं है, इसीलिये वह्निजन्य है। इस प्रकार धूम और वह्नि के सहचार में व्यभिचार की शंका का निरास किया जाता हैं। यह कहा जा सकता है कि तर्क व्याप्तिग्रहमूलक होता है क्योंकि वह आपादक और आपाद्यं के व्याप्ति सम्बन्ध पर आधारित है, और इस प्रकार तर्क के व्याप्तिग्रहमूलकत्व के कारण वहाँ अनवस्था दोष आ जाता है। एक तर्क में आपादक और आपाद्य के व्याप्ति सम्बन्ध में व्यभिचार की शंका के निरास के लिये दूसरा तर्क, दूसरे तर्क की व्याप्ति में व्यभिचार की शंका के निरास के लिये तीसरा और इस प्रकार अनवस्था दोष आ जाता है। इस समस्या का निराकरण करते हुए श्री गंगेशोपाध्याय कहते हैं कि तर्क के व्याप्तिमूलकत्व के कारण आशंका निर्बाध रूप से नहीं चलती है। शंका की एक सीमा होती है और सीमा से परे शंका करने से स्वक्रिया का व्याघात होता है। अतः यही लोक मर्यादा है कि वहीं शंका की जाती है जिस शंका के विषय–वस्तु में स्वक्रिया का व्याघात नहीं होता है। जिस शंका के विषय–वस्तु में शंका करने से स्वक्रिया का व्याघात हो जाता है वहाँ शंका नहीं करनी चाहिये। यावत् शंका होती है तावत् उनका

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

निराकरण तर्क के अनुसरण से होता है, और जहाँ व्याघात के कारण शंका ही अवतरित नहीं होती वहाँ तर्क के बिना ही व्याप्ति का ग्रहण हो जाता है। "व्यभिचारज्ञानविरहसहकृतं सहचारदर्शनं व्याप्तिग्राहकं, ज्ञानं निश्चयः शंका च। सा च क्वचिदुपाधिसन्देहात् क्वचिद्विशेषादर्शनसहितसाधारणधर्मदर्शनात्। तद्विरहश्च क्वचिद्विपक्षबाधकतर्कात् क्वचित् स्वतः सिद्ध एव। तर्कस्य व्याप्तिग्रहमूलकत्वेनानवस्थेति चेत्, न, यावदाशंकं तर्कानुसरणात्। यत्र च व्याघातेन शंकैव नावतरति तत्र तर्कं विनैव व्याप्तिग्रहः।" द्रष्टव्य है कि अनवस्था दोष की यह समस्या और उसका निदान उदयनाचार्य न्यायकुसुमाञ्जलिः में भी प्रस्तुत किया है और उदयनाचार्य के इस मत का खंडन श्रीहर्ष अपने खंडनखंडखाद्यम् में करते हैं। गंगेशोपाध्याय अपनी तत्त्वचिन्तामणिः में श्रीहर्ष के मत का खंडन और उदयनाचार्य के मत का मंडन करते हैं।

तर्क को स्पष्ट करने के क्रम में गंगेशोपाध्याय धूम और वह्नि के सहचार सम्बन्ध को उदाहरण स्वरूप लेते हैं तथा कहते हैं कि दोनों में जन्य–जनक भाव के लिये दोनों का अवस्थान एक होना चाहिये। धूम वहीं होना चाहिये जहाँ वह्नि अवस्थित है। अवस्थान एक नहीं होने से अर्थात् असमवहित होने से धूम वह्निजन्य नहीं होना चाहिये। जन्य और जनक के सम्बन्ध में अवस्थान को लेकर दो ही विकल्प संभव है अर्थात् जगत में जन्य दो वस्तु ही हो सकती है। या तो वस्तु जनक के साथ नहीं रहते हुए जन्य हो सकती है अर्थात् जनक के असमवृत्तित्त्व में जन्य हो सकती है, या द्वितीयतः वस्तु जनक के साथ रहते हुए जन्य हो सकती है अर्थात् जनक के समवृत्तित्त्व में जन्य हो सकती है। यही दो विकल्प हो सकते हैं और वस्तु उभय विकल्पों में से किसी विकल्प से जन्य न हो तो वह जन्य ही नहीं हो सकती। "जन्यं हि जगति वस्तुद्वयं वह्न्यसमवहितजन्यं तत्समवहितजन्यं च तत्रायञ्चेदुभयजन्य एव न स्यात्तदा जन्य एव न स्यादिति भावः।" धूम यदि वह्नि के असमवृत्तित्त्व में अजन्य हो और वह्नि के समवृत्तित्त्व में भी अजन्य हो तो धूम वह्नि से उत्पन्न न हो। धूम वह्नि के साथ नहीं होने में और वह्नि के साथ होने में भी अजन्य हो तो धूम वह्नि से उत्पन्न ही नहीं होना चाहिये। यहाँ शंका होती है कि क्या धूम वह्नि से भिन्न से उत्पन्न होता है, या क्या कभी वह्नि के बिना भी उत्पन्न होता है, या क्या धूम अहेतुक होता है? ऐसी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

शंका होने से सर्वत्र स्वक्रिया का व्याघात होता है। कार्य–कारण भाव के लिये अन्वय और व्यतिरेक हेतु का ग्रहण किया जाता है। अन्वय और व्यतिरेक हेतु को ग्रहण किये बिना ही कार्योत्पत्ति की शंका हो तो स्वयं धूमार्थी धूम के लिये वह्नि का, भोजनार्थी तृप्ति के लिये भोजन का, और दूसरों को समझाने के लिये शब्द का ग्रहण नियमतः क्यूं करते हैं? धूमार्थी धूम के लिये वह्नि का ग्रहण करता है, इसीलिये धूम और वह्नि में कार्य–कारण भाव है। उस प्रकारक सामग्री होने से वह्नि में धूम रूप इष्ट साधनता का निर्णय संभव होने से वह्नि को धूम का कारण रूप में ग्रहण करना ही उस प्रकारक शंका का प्रतिबन्धक है। धूम और वह्नि के कार्य–कारण भाव की शंका में निश्चित रूप से धूम के लिये वह्नि का कारण रूप में ग्रहण नहीं होता है, और कारण रूप में ग्रहण करने में निश्चिंत रूप से शंका नहीं होती है। इसीलिये कहा गया है कि वही आशंका की जाती है जिस आशंका के विषय–वस्तु में शंका करने पर स्वक्रिया का व्याघात नहीं होता है।

श्रीहर्ष कहते हैं कि ऐसी शंका करने में कि धूम वह्नि से भिन्न से उत्पन्न होता है धूम के लिये वह्नि लाने की प्रवृत्ति ही नहीं उत्पन्न होनी चाहिये। इस शंका में धूमादि कार्य के लिये वन्ह्यादि को नियमतः ग्रहण करना संभव ही नहीं है। श्रीहर्ष के अनुसार धूमादि कार्य का तत्काल पूर्ववर्त्ती कारण होता है, और वह उक्त संशय का प्रतिबन्धक है। इस कारण को उक्त संशय का प्रतिबन्धकत्व होने से ही उक्त संशय नहीं होता है। नैयायिक के अनुसार वही आशंका की जाती है जिस आशंका के विषय–वस्तु में शंका करने से स्व–क्रिया का व्याघात नहीं होता है। जहाँ स्व–क्रिया का व्याघात हो जाता है वहाँ शंका नहीं करनी चाहिये। इसका अर्थ यह है कि स्व–क्रिया का व्याघात होने का ज्ञान शंका का प्रतिबन्धक है। श्रीहर्ष नैयायिकों को कहते हैं कि स्व–क्रिया एवं व्यभिचार की आशंका का आपसी विरोध व्याघात कहा गया है। स्व–क्रिया का उस प्रकारक संशय के साथ सह–अवस्थान नहीं हो सकता है। सहानवस्थान का नियम विरोध कहलाता है और यह विरोध स्व–क्रिया एवं व्यभिचार की आशंका में होता है। श्रीहर्ष के अनुसार सहानवस्थान का नियम व्याप्ति ही है। इस नियम के अनुसार जहाँ–जहाँ स्वक्रिया होती है वहाँ–वहाँ व्यभिचार की आशंका नहीं होती है। व्याप्ति के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इस ज्ञान में भी विरोधिनी व्यभिचार–शंका होती है जिसकी निवृत्ति के लिये दूसरा तर्क अपेक्षित होता है। यहाँ भी तर्क की एक अविरल धारा चलती है जिससे अनवस्था दोष आ जाता है। न्याय के पक्ष को तथा श्रीहर्ष के मत को मथुरानाथ तर्कवागीश निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं– "स्वक्रियायाः व्याघातज्ञानं प्रतिबन्धकमुक्तं, व्याघातश्च विरोधः, विरोधश्च स्वक्रिया–यास्तादृशसंशयेन सहानवस्थाननियमः, नियमश्च व्याप्तिरेवेति तज्ज्ञानेपि व्यभिचारशंकाविरोधिनी, तन्निवृत्तिश्च तर्कान्तरादित्यनवस्थेत्यर्थः।" श्रीहर्ष के अनुसार अनवस्था दोष होने से उदयनाचार्य के मत का खंडन हो जाता है। श्रीहर्ष के मत को खंडित करते हुए गंगेशोपाध्याय कहते हैं कि स्व–क्रिया व्याघात शंका का प्रतिबन्धक होता है अर्थात् धूम के लिये वह्नि लाने की हमारी क्रिया धूम और वह्नि के कार्य–कारण भाव में शंका का प्रतिबन्धक होती है। यहाँ शंका करने से स्व–क्रिया का व्याघात होता है। स्व–क्रिया के शंका का प्रतिबन्धकत्व से ही श्रीहर्ष द्वारा लगाये गये अनवस्था दोष निरस्त हो जाता है। श्रीहर्ष का कहना है कि स्व–क्रिया का व्याघात यदि होता है तो शंका भी अवश्य है क्योंकि शंका के विना व्याघात नहीं होता है। स्व–क्रिया का व्याघात यदि नहीं होता है तो शंका नहीं है। धूम के लिये वह्नि लाने की स्व–क्रिया में व्याघात नहीं होने से दोनों के कार्य–कारण संबंध में शंका का नहीं होना स्पष्ट है। व्याघात होने से शंका के प्रतिबन्धकत्व का अभाव होने से शंका होती है। मथुरानाथ तर्कवागीश कहते हैं कि श्रीहर्ष के अनुसार धूम के लिये वह्नि लाने की क्रिया में व्याघात होने में शंका का आवश्यकत्व स्थापित होता है। शंका आवश्यक रूप से होने से व्याघात को शंका का निवर्त्तक नहीं कहा जा सकता हैं। व्याघात का शंका–निवर्त्तकत्व के अभाव में शंका के कारण तर्क का अवतरण ही नहीं होता हैं। तर्क का अवतरण नहीं होने से तर्क के शंका निवर्त्तकत्व का अभाव होता है। फलतः श्रीहर्ष के अनुसार हेतु और साध्य के सहचार में शंका का निराकरण तर्क से नहीं होता है। "व्याघातसत्त्वे शंकायाः आवश्यकत्वेन व्याघातस्य शंकानिवर्त्तकत्वासंभवात्, व्याघातस्य शंकानिवर्त्तकत्वाभावे शंकया तर्कस्यैवानवतारेण तर्कस्यापि शंकानिवर्त्तकत्वाभावादिति भावः।" श्रीहर्ष का मत एवं अपना मत गंगेशोपाध्याय निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं– "न हि सम्भवति स्वयं वह्नयादिकं धूमादिकार्यार्थं नियमत उपादत्ते तत्कारणं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तन्नेत्याशंक्यते चेति। एतेन व्याघातो विरोधः स च सहानवस्थाननियम इति तत्राप्यनवस्थेति निरस्तं। स्वक्रियाया एव शंकाप्रतिबन्धकत्वात्। अत एव 'व्याघातो यदि शंकास्ति न चेच्छंका ततस्तराम्। व्याघातावधिराशंका तर्कः शंकावधिः कुतः।'' इति खंडनकारमतमप्यपास्तम्।''

श्रीहर्ष का कहना है कि व्याघात यदि है तो शंका अवश्य है क्योंकि शंका के विना स्व–क्रिया का व्याघात नहीं होता है। उनके अनुसार व्याघात शंकाश्रित होता है। धूम और वह्नि के कार्य–कारण भाव की शंका में ही स्व–क्रिया का व्याघात होता है। यदि शंका नहीं है तो धूम के लिये वह्नि लाने की स्व–क्रिया का व्याघात नहीं होता है। गंगेशोपाध्याय श्रीहर्ष के मत का खंडन करते हुए एवं उदयनाचार्य के मत का मंडन करते हुए कहते हैं कि वहीं शंका की जाती है जहाँ शंका के विषय–वस्तु में शंका करने से स्व–क्रिया का व्याघात नहीं होता है। धूम और वह्नि के सम्बन्ध में शंका नहीं करनी चाहिये अन्यथा धूम के लिये वह्नि लाने की हमारी क्रिया का व्याघात हो जाता है। गंगेशोपाध्याय के अनुसार व्याघात् शंकाश्रित नहीं होता है। उनके अनुसार स्व–क्रिया ही शंका का प्रतिबन्धक होता है। धूम के लिये वह्नि लाने की क्रिया शंका को प्रतिबन्धित करती है वा नहीं, तो विशेष के दर्शन से शंका की निवृत्ति नहीं होनी चाहिये। स्व–क्रिया शंका का प्रतिबन्धक नहीं हो तो शंका होने से तर्क की अविरल धारा चलने से अनवस्था दोष होगी और फलतः कार्य–कारण भाव या व्याप्ति की स्थापना नहीं होगी। अतएव तर्क से शंका का निवारण कर ही कार्य–कारण भाव या व्याप्ति की स्थापना होती है। यह प्रश्न किया गया है कि इस प्रकारक व्याप्ति–ज्ञान भूयो–दर्शन से होता है, अतः यह मत उक्त मत से कैसे मेल खाता है? ''नन्वेवं व्याप्तिज्ञानं भूयोदर्शनादिति सिद्धान्तः कथं संगच्छते'' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गंगेशोपाध्याय भूयो–दर्शन एवं तर्क की उपादेयता पर विचार करते हैं और उनके मत को मथुरानाथ तर्कवागीश धूम और वह्नि के उदाहरण से स्पष्ट करते हैं। वह्नि और धूम दोनों का अनेक सहचार निश्चय के विना वह्नि के साथ नहीं रहने वाली (असमवहित) सामग्री को वह्नि से अजन्य होने का निश्चय असंभव होने से धूम में वह्निजन्यत्व स्थापित नहीं हो पाती है। धूम में वह्निजन्यत्व स्थापित करने के लिये वह्नि के साथ नहीं रहने वाली सामग्री का वह्नि से अजन्य होने का निश्चय आवश्यक है, और यह निश्चय

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वह्नि और धूम दोनों के सहचार निश्चय के विना संभव नहीं है। फलतः हम यह नहीं कह सकते कि यही धूम वह्नि पूर्वक होता है, वह्नि के साथ नहीं रहने वाले अन्य सामग्री नहीं। दो धूम को देखकर हम यह नहीं कह सकते कि यही दोनों धूम वह्निपूर्वक होता है, वह्नि के साथ नहीं रहने वाले अन्य सामग्री नहीं। मथुरानाथ तर्कवागीश के शब्दों में– "वह्निधूमयोर्भूयःसहचारनिश्चयं विना धूमे वन्ह्यसमवहितसाम्ग्रयजन्यत्वनिश्चयासंभवात् अयमेव धूमो वह्निपूर्वकं एतदन्यस्तु न, एवं एतद्धूमद्वयमेव वह्निपूर्वकं न त्वेतदन्य इत्यादिशंकास–वंभवादिति भावः।" यहाँ शंका होती है कि क्या धूम वह्निजन्य है? शंका संभव होने से उसकी निवृत्ति तर्क से करते हैं। इस प्रकारक तर्क का अवतार भूयोदर्शन के विना नहीं होता है। यहाँ भूयो–दर्शन का आदर किया जाता है। धूम और अग्नि के सहचार का भूयोदर्शन होने के पश्चात् शंका की निवृत्ति के लिये हम तर्क का उपयोग करते हैं। भूयोदर्शन साक्षात् ही व्याप्ति–ग्रह का प्रयोजक नहीं है, इसके लिये तर्क भी आवश्यक है। भूयोदर्शनजन्य संस्कार को तर्क कहा गया है 'भूयोदर्शनजन्यसंस्कारस्तर्कः', और वह व्याप्ति का ग्राहक होता है।

भूयो–दर्शन के संस्कार (तर्क) द्वारा व्याप्ति के ग्राहकत्व में अर्थात तर्क द्वारा व्याप्ति का ग्रहण होने में पूर्व पक्ष तर्क के एक भिन्न प्रमाण होने की आपत्ति उठाते हैं। उनका कहना है कि तर्क मन से बाहर की वस्तु (यथा–धूम) को उपलब्ध करा कर प्रमा को जन्म देता है। वह असाधारण कारण होता है तथा एक भिन्न प्रमाण है। तर्क नामक असाधारण कारण जो मन से बाहर की वस्तु को उपलंब्ध कराकर प्रमा को जन्म देता है निश्चय ही एक भिन्न प्रमाण है। मथुरानाथ तर्कवागीश इस पक्ष को निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं– "भूयोदर्शनस्य संस्कारद्वारा व्याप्तिग्राहकत्वे तदाहितसंस्कारस्य मानान्तरत्वापत्तिः यदसाधारणं सहकार्य्यासाद्य मनोवहिर्गोचरां प्रभं जनयति तदेव प्रमाणान्तरमिति।"

तर्क को एक भिन्न प्रमाण होने की आपत्ति का खंडन गंगेशोपाध्याय जनक और प्रयोजक में भेद के आधार पर करते हैं। उनका कहना है कि वस्तुतः तर्क के प्रामात्व मान लेने में भी उस प्रामात्व के प्रति भूयोदर्शन जनित संस्कार (तर्क) जनक नहीं अपितु प्रयोजक ही होता है। इसीलिये तर्क एक भिन्न प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं है। मथुरानाथ तर्कवागीश के अनुसार–

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

"वस्तुतस्तर्कस्य प्रामात्वेऽपि तं प्रति संस्कारो न जनकः किन्तु प्रयोजक एवेति न प्रमाणान्तरत्वमित्येव तत्त्वं।" प्रयोजक साक्षात् रूप से नहीं अपितु परंपरया कार्य को उत्पन्न करता है। जैसे हम कहते हैं कि काशी में मरण से मुक्ति की प्राप्ति होती है तो काशी में मरण को परंपरया कारणत्व होता है, साक्षात् कारणत्व तत्त्व–ज्ञान को हो होता है। अतः काशी में मरण मुक्ति का प्रयोजक है जनक नहीं। उसी प्रकार तर्क प्रमा का प्रयोजक है जनक नहीं। चूँकि प्रमाण प्रमा का साक्षात् कारण होता है और तर्क साक्षात् रूप से प्रमा का कारण नहीं है, अतः तर्क प्रमाण नहीं है। प्रमा 'तद्वति तत्प्रकारकानुभवः' होता है, और तर्क से प्राप्त ज्ञान तत्प्रकारक नहीं होता है, फलतः तर्क का प्रमाणत्व नहीं है। वह तर्क प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त व्याप्ति के ज्ञान में हेतु होता है। तर्क के अभाव में भी शब्द और अनुमान से अर्थ के निर्णय में अविरोधित्व होने से व्याप्ति का ग्रहण हो जाता है। मथुरानाथ तर्कवागीश स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि तर्क के अभाव में भी यावत् व्यभिचार का सन्देह होता है तावत् व्यभिचार के सन्देह की योग्यता की सन्देहरूपता के कारण शब्द और अनुमान से अर्थ के निर्णय में किसी प्रकारक विरोध नहीं होता अर्थात् अविरोधित्व होने से व्याप्ति का ग्रहण हो जाता है। फलतः तर्क प्रयोजक ही है जनक नहीं। "व्यभिचार सन्देहेऽपीति यावत्, व्यभिचार सन्देहस्य योग्यतादिसन्देहरूपतया शब्दादिनार्थनिर्णयेऽविरोधित्वादिति भावः।" अतएव तर्क एक भिन्न प्रमाण के रूप में गंगेशोपाध्याय को स्वीकार्य नहीं। वे उक्त कथन को निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं– "न हि व्याघातः शंकाश्रितः, किन्तु स्वक्रियैव शंकाप्रतिबन्धकेति, न वा विशेषदर्शनात् क्वचित् शंकानिवृत्तिरेवं स्यात्। न चैतादृशतर्कावतारो भूयोदर्शनं विनेति भूयोदर्शनादरः, न तु स्वतएव प्रयोजकः। अत एव तदाहित संस्कारो न मानान्तरं तर्कस्याप्रमात्वात्, तच्च प्रत्यक्षव्याप्तिज्ञाने हेतुः तदभावेऽपि शब्दानुमानाभ्यां तदग्रहात्।"

गंगेशोपाध्याय के अनुसार (1) व्यभिचार के अदर्शनवान् सहचार दर्शन तथा (2) व्यभिचार की शंका का विरह (नाश) करने वाला अनुकूल तर्क से व्याप्ति का निश्चय होता है। उन दोनों का ज्ञान संदिग्ध का व्यभिचारी होता है, फलतः संदिग्ध नहीं होता है। उन दोनों के असंदिग्ध ज्ञान से हम व्याप्ति का निश्चय करते हैं। यहाँ यह कहा जा सकता है कि उन दोनों से भी व्याप्ति का निश्चय नहीं होता है। गंगेशोपाध्याय इसका खंडन करते हुए

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कहते हैं कि उन दोनों के सत् स्वरूपों में व्याप्ति का ग्राहकत्व होता है और दोनों के व्याप्तिग्राहकत्व से ही व्याप्ति का निश्चय हो जाता है। गंगेशोपाध्याय सत् तर्क और तर्काभास में भेद करते हुए प्रमा रूप व्याप्ति और अप्रमा रूप व्याप्ति में भेद करते हैं। सत् तर्क से प्रमा रूप व्याप्ति और तर्काभास से अप्रमा रूप व्याप्ति की प्राप्ति होती है। गंगेशोपाध्याय के शब्दों में– "ननु सहचारदर्शनव्यभिचारादर्शनवद्व्यभिचारशंकाविरहानुकूलतर्कयोर्ज्ञानं व्यभिचारिसाधारणमिति न ततोऽपि व्याप्तिनिश्चय इति चेत्। न। स्वरूपसतोरेव तयोर्व्याप्तिग्राहकत्वात्। सत्तर्काद्व्याप्तिप्रमा तदाभासात्तदप्रमा।"

गंगेशोपाध्याय के अनुसार प्राचीन नैयायिक तर्क के व्याप्तिग्राहकत्व को स्वीकार कर अनवस्था दोष का प्रकारान्तर से परिहार करते हैं। यह उनके द्वारा 'अपरे तु' पद के प्रयोग से स्पष्ट है। "प्राञ्चस्तु तर्कस्य व्याप्ति–ग्राहकत्वमभ्युपेत्य प्रकारान्तरेणानवस्था परिहरन्ति तदेवाह "अपरे त्विति" उन प्राचीन नैयायिकों के अनुसार तर्क में व्याप्तिग्राहकत्व होता है, परन्तु तर्क में व्याप्ति सदैव अनुभवमूलक नहीं होता स्मरणमूलक भी होता है। वे कहते हैं कि जहाँ तर्क में व्याप्ति का अनुभव मूल होता है वहाँ तर्क में उस अनुभव–मूलक व्याप्ति के ग्रहण करने के लिये दूसरा तर्क अपेक्षित होता है, परन्तु जहाँ व्याप्ति का स्मरण तर्क का हेतु होता है वहाँ उस स्मरण–मूलक व्याप्ति के लिये दूसरे तर्क की अपेक्षा नहीं होती है। पहले में व्याप्ति के अनुभव के प्रति ही तर्क का हेतुत्व होता है। "व्याप्त्यनुभवं प्रत्येव तर्कस्य हेतुत्वादितिभावः। व्याप्तिस्मरणे तर्कापेक्षा नास्तीति।" जिस तर्क में आपादक और आपद्य की व्याप्ति स्थापित होती है वहाँ अनुभव मूल होता है और उस व्याप्ति में शंका का निवारण स्वक्रिया–व्याघात से होता है। यहाँ तर्क की श्रृंखला नहीं चलती और अनवस्था दोष का निराकरण स्वक्रिया–व्याघात से हो जाता है। जहाँ तर्क में व्याप्ति स्मरणमूलक होता है वहाँ दूसरे तर्क की अपेक्षा ही नहीं होती। अपने इस विचार की पुष्टि के लिये प्राचीन नैयायिक तुरन्त उत्पन्न शिशुओं का इष्ट और अनिष्ट साधनता की अनुमिति को ग्रहण करते हुए कहते हैं कि उनका इष्ट (क्षुधा की तृप्ति) की साधनता (स्तनपान) की अनुमिति का हेतु और अनिष्ट (गिड़ने का भय) की साधनता (माँ गी गोद) की अनुमिति का हेतु की व्याप्ति का स्मरण होता है। उस तुरन्त उत्पन्न शिशु को व्याप्ति के अनुभावक का अर्थात् व्याप्ति को अनुभव कराने वाले का अभाव होने से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

शिशुओं का इष्ट और अनिष्ट की साधनता की अनुमिति का हेतु ज्ञान स्मरण मूलक होता है। उन शिशुओं में साधनता की अनुमिति का हेतु व्याप्ति का स्मरण होता है। "यद्वा ननु जातमात्रस्य व्याप्तिज्ञानं स्मरणमेव न किन्तु अनुभवरूपमिति।" पूर्वजन्म में अनुभूत व्याप्ति का स्मरण यहाँ हेतु है और भाविजन्म में भी अनुभवमूला व्याप्ति के स्मरण की परंपरा चलती है। इस प्रकार ये प्राचीन नैयायिक तर्क के व्याप्तिग्राहकत्व को स्वीकार कर वहाँ के अनवस्था दोष का निराकरण करते हैं। गंगेशोपाध्याय उक्त मत को व्यक्त करते हुए लिखते हैं– "अपरे तु यत्र तर्के व्याप्त्यनुभवो मूलं तत्र तर्कान्तरापेक्षा, यत्र तु व्याप्तिस्मरणं हेतुः तत्र न तर्कान्तरापेक्षेति नानवस्था, अस्ति च जातमात्राणामिष्टानिष्टसाधनतानुमिति हेतु व्याप्तिस्मरणं, तदानीं व्याप्त्यनुभावकाभावात्, तन्मूलानुभवमूला चाऽग्रेपि व्याप्तिस्मरणपरंपरेति।"

इन प्राचीन नैयायिकों के मत का विरोध करते हुए कुछ अन्य प्राचीन नैयायिक कहते हैं कि व्याप्ति को ग्रहण करने वाले तर्क के मूलभूत व्याप्ति का ग्रहण अन्य तर्क से नहीं अपितु व्याप्ति–ग्रह अन्यथानुपपत्ति के ग्रहण से होता है। अन्यथानुपपत्ति से यह सिद्ध होता है कि हेतु की उपस्थिति में साध्य की अन्यथा उपपत्ति नहीं होती है। मथुरानाथ तर्कवागीश के शब्दों में– "व्याप्तिग्राहकतर्कमूलभूतव्याप्तिग्रहो न तर्कान्तरादपितु व्याप्तिग्रहान्यथा–नुपपत्तिग्रहादेव इति।" गंगेशोपाध्याय इन नैयायिकों के मत का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि ये नैयायिक व्याप्ति का ग्रहण करने के लिये प्रयुक्त तर्क में आपादक और आपाद्य की व्याप्ति अथवा कार्य–कारण भाव में लगाये गये अनवस्था दोष का निराकरण निम्न युक्तियों से करते हैं। आपादक और आपाद्य की व्याप्ति में अनवस्था दोष का निराकरण प्राचीन नैयायिक अन्यथानुपपत्ति से करते हैं। पुनः कार्य–कारण भाव में संशय का निराकरण करते हुए कहते हैं कि कुछ तर्क के मूल भूत व्याप्ति में संशय अनादि काल से प्रसिद्ध कार्य–कारण भाव के विषय के विरोधी मूल के होते हैं। इन नैयायिकों का कहना है कि कार्य–कारण भाव के विरोध के संशय में अनादिकाल से प्रसिद्ध कार्य–कारण भाव के विषयत्व का निश्चय ही संशय का निवर्त्तक होता है। गंगेशोपाध्याय प्राचीन नैयायिकों के इस मत पर अपनी आशंका व्यक्त करते हुए इस मत का खंडन करते हैं। "कार्य्यकारणभाव–विरोधादीनामनादिप्रसिद्धिविषयत्वनिश्चय एव कुत्रचित्तर्के संशयनिवर्त्तक इति केचिद्वदन्ति तन्मतमाशंक्य निराकरोति।"

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्राचीन नैयायिकों के उक्त मत का निराकरण करते हुए गंगेशोपाध्याय कहते हैं कि यह सत्य है कि कार्य–कारण भाव का विषय अनादि काल से प्रसिद्ध होता है, परन्तु उसके अनादि काल से प्रसिद्ध होने के पीछे क्या प्रमाण है? अनादिकाल से प्रसिद्ध होना कार्य–कारण भाव के विषयत्व की प्रामाणिकता के लिये पर्याप्त नहीं है। प्रमाण होने के प्रश्न में वहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण असंभव होने से अनुमान का ही पर्यवसान है। अर्थात् अनुमान को छोड़कर अन्य प्रमाण उपलब्ध नहीं है। और उस प्रकार से वहाँ भी तर्क की अपेक्षा करना आवश्यक है। अतः अनवस्था जस का तस रह जाती है। "तत्रापि तर्कापेक्षावश्यकीत्यनवस्था तदवस्थैवेति।"

जैसा कहा जा चुका है कि प्राचीन नैयायिक अनवस्था दोष से बचने के लिये तर्क से मलभूत व्याप्ति का ग्रहण अन्यथा की अनुपपत्ति के आधार पर करते हैं परन्तु गंगेशोपाध्याय को यह भी मान्य नहीं है क्योंकि उनके अनुसार व्याप्ति की अन्यथा अनुपपत्ति भी अनुमानत्व होता है। फलतः शंका यहाँ भी होती है और अनवस्था दोष का निराकरण नहीं हो पाता है। गंगेशोपाध्याय के अनुसार अन्यथा की अनुपपत्ति के अनुमानत्व के फलस्वरूप यह नहीं कहना चाहिये कि व्याप्ति–ग्रह की अन्यथा की अनुपपत्ति से ही तर्क का अनादि काल से सिद्ध व्याप्ति का ज्ञान होता है। गंगेशोपाध्याय के शब्दों में– "यत्त्वनादिसिद्धकार्य्यकारणभावविरोधादिमूलाः केचित्तर्का इति। तन्न। तत्र प्रमाणानुयोगेऽनुमान एव पर्य्यवसानात्। न च व्याप्तिग्रहान्यथानुपपत्त्यैव तर्कस्यानादिसिद्धव्याप्तिकत्वज्ञानमिति वाच्यम्। अनुपपत्तेरप्यनुमानत्वात्।" अनवस्था दोष से बचने के लिये गंगेशोपाध्याय उदयनाचार्य का अनुसरण करते हुए कहते हैं कि स्वक्रिया का व्याघात होने से कार्य–कारण भाव या व्याप्ति में शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि वहीं शंका की जाती है जहाँ शंका के विषय–वस्तु में शंका करने से स्वक्रिया का व्याघात नहीं होता है। धूम और अग्नि के कार्य–कारण भाव में शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि शंका करने से यहाँ स्वक्रिया का व्याघात हो जाता है।

उन प्राचीन नैयायिकों के अतिरिक्त एकदेशीय नैयायिकों के मत को प्रस्तुत कर भी गंगेशोपाध्याय उसमें दोष दिखाते हैं। हम जानते हैं कि व्याप्ति–ग्रह के लिये हेतु और साध्य के सहचार का अनौपाधिक होना अनिवार्य है। ये नैयायिक अनौपाधिकत्व कों विपक्ष–बाधक–तर्क से ग्रहण

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

करते हैं। अर्थात् हेतु को साध्य के विपक्ष में बाधक दिखाकर अनौपाधिकत्व का ग्रहण करते हैं। हेतु और साध्य का वह सहचार जहाँ उपाधि होता है वहाँ हेतु अपने साध्य के विपक्ष में बाधक नहीं होता है। जैसे 'मैत्रतनयत्व' और 'श्यामत्व' के सहचार में उपाधि होने से 'मैत्रतनयत्व' अपने साध्य 'श्यामत्व' के विपक्ष में बाधक नहीं होता है। पुनः जो सहचार अनौपाधिक होता है वहाँ हेतु अपने साध्य के विपक्ष में बाधक होता है। जैसे हेतु 'धूम' अपने साध्य 'वह्नि' के विपक्ष में बाधक होता है। इन एकदेशीय नैयायिकों के अनुसार अनौपाधिकत्व और व्याप्ति का ग्रहण तर्क के अधीन होता है। गंगेशोपाध्याय तर्क के अप्रमाणत्व के आधार पर कहते हैं कि तर्क से अनौपाधिकत्व का और व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता है। यह कहा जा सकता है कि यह मान भी लें कि तर्क से अनौपाधिकत्व का ग्रहण नहीं होता है फिर भी तर्क व्यभिचारादि की शंका के निरास के द्वार (उपाय) होने के कारण प्रत्यक्षादि प्रमाणों का सहकारी है। यह भी गंगेशोपाध्याय को मान्य नहीं है। वे तर्क को प्रत्यक्षादि प्रमाण का सहकारी भी नहीं मानते। उनका कहना है कि जहाँ सहचार में शंका का उत्पाद नहीं होती वहाँ तर्काभाव होता है। तर्क को प्रत्यक्षादि प्रमाण का सहकारी कहने के लिये जहाँ सहचार में शंका उत्लन्न नहीं होता वहाँ तर्काभाव नहीं होना चाहिये, परन्तु अनवस्था भय के कारण तर्क के विना तर्काभाव के अतिरिक्त भिन्न कारण का अभाव होने से जहाँ सहचार में शंका उत्पन्न नहीं होंता है वहाँ व्याप्ति–ग्रह में तर्काभाव होता है। फलतः तर्क प्रत्यक्षादि का सहकारी नहीं कहा ज्रा सकता है। तर्क के विना तर्काभाव का अतिरिक्त भिन्न कारण मानने से तर्काभाव और उस अतिरिक्त भिन्न कारण में कार्य–कारण भाव की स्थापना करनी होगी। उस कार्य–कारण भाव में शंका की निवृत्ति के लिये तर्क की आवश्यकता होगी। उस तर्क मे शंका की निवृत्ति के लिये पुनः तर्क की आवश्यकता होगी और इस प्रकार अनवस्था दोष आ ही जायेगी। इसी अनवस्था भय के कारण यह कहा गया है कि जहाँ सहचार में शंका उत्पन्न नहीं होती है वहाँ व्याप्ति ग्रह में तर्काभाव होता है और इस प्रकार तर्क प्रत्यक्षादि का सहकारी नहीं है। गंगेशोपाध्याय के शब्दों में– "अन्ये तु विपक्षबाधकतर्कादनौपाधिकत्वग्रह एव तदधीनो व्याप्तिग्रह इति, तदपि न, तर्कस्याप्रमाणत्वात्। व्यभिचारादिशंकानिरासद्वारा प्रत्यक्षादिसहकारी स इति चेत्। न। अनवस्थाभयेन तर्कं विना व्याघातात् यत्र

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

शंकाविरहस्तत्र व्याप्तिग्रहे तर्कस्य व्यभिचारात्।" गंगेशोपाध्याय के मत की मथुरानाथ तर्कवागीश व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ये एकदेशीय नैयायिक उस सहचार ज्ञान को जो व्यभिचार के अदर्शन की सहायता से प्राप्त है (अर्थात् वह सहचार ज्ञान जहाँ व्यभिचार का अदर्शन होता है) व्याप्ति–ग्राहक के रूप में और शंका की अनुत्पत्ति में तर्क को प्रयोजक के रूप में व्यवस्थापित कर तर्क से अनौपाधिकत्व का ग्रहण करते हैं। दोनों से मिलकर व्याप्ति का ग्रहण होता है। एकदेशीय नैयायिक के इस मत पर अपनी आशंका व्यक्त करते हुए गंगेशोपाध्याय उसमें दोष दिखाते हैं। "तदेवं व्यभिचारादर्शनसहकृतं सहचार ज्ञानं व्याप्तिग्राहकं तर्कः शंकानुत्पत्तौ प्रयोजक इति व्यवस्थाप्यतर्कादनौपाधिकत्वग्रहस्तदुभयाभ्यां मिलित्वा व्याप्तिग्रह इत्येकदेशिमतमाशंक्य दूषयति।" गंगेशोपाध्याय के मत की व्याख्या करते हुए मथुरानाथ पुनः कहते हैं कि अनौपाधिकत्व के ग्रहण में और व्याप्ति के ग्रहण में तर्क एक स्वतंत्र हेतु है या प्रमाण का सहकारी। इन्हीं दो स्थियों से तर्क द्वारा अनौपाधिकत्व का और व्याप्ति का ग्रहण हो सकता है। गंगेशोपाध्याय के अनुसार तर्क स्वतंत्र हेतु नहीं है। प्रमाण स्वतंत्र होता है और वह नियम से प्रमा का जनक होता है। प्रमाण की स्वतंत्रता के कारण उसके जनकत्व के नियम से तर्क का प्रमाणत्व असंभव होने से वहाँ जनकत्वाभाव होता है। फलतः अनौपाधिकत्व के ग्रहण में और व्याप्ति के ग्रहण में तर्क को स्वतंत्र हेतु नहीं माना जा सकता है। "अनौपाधिकत्वग्रहे व्याप्तिग्रहे च तर्कः स्वतन्त्रो हेतुः, प्रमाणसहकारी वा,नाद्य इत्याह 'तर्कस्येति', तथा च प्रमाणस्य स्वतन्त्रतया जनकत्वनियमेन तर्कस्य प्रमाणत्वासंभवात् जनकत्वाभाव इत्यर्थः।" पीछे यह कहा जा चुका है कि तर्क प्रत्यक्षादि प्रमाण का सहकारी भी नहीं है। फलतः तर्क से अनौपाधिकत्व का और व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता है। इस प्रकार इन एकदेशीय नैयायिक के मत का खंडन करने के पश्चात् गंगेशोपाध्याय कुछ मीमांसकों के मत का खंडन करते हैं।

एकदेशीय मीमांसक के मत का उल्लेख करते हुए गंगेशोपाध्याय कहते हैं कि ये मीमांसक अनुकूल तर्क के विना ही सहचार–दर्शन मात्र से व्याप्ति का ग्रहण करते हैं। उन मीमांसकों का कथन है कि व्याप्ति के निश्चय में परंपरया भी कहीं भी तर्क का उपयोग नहीं होता है। ये व्याप्ति के निश्चय के लिये सहचार में संशय की संभावना को अस्वीकार करते हुए उसकी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

निवृत्ति के लिये तर्क को अनावश्यक मानते हैं। गंगेशोपाध्याय के अनुसार इन मीमांसकों के मत को स्वीकार करने से अनुमान मात्र का उच्छेद हो जाना चाहिये। इन मीमांसकों के मत का अनुसरण करने से 'वह्नेतर' (पक्षेतर) और 'अनुष्ण' के सहचार से दोनों में व्याप्ति का निश्चय हो जाना चाहिये। परन्तु वह्नेतरत्व अनुष्णत्व का व्यापक होने से और कृतकत्व का अव्यापक होने से 'वन्हिरनुष्णः कृतकत्वात्' में प्रत्यक्ष से वह्नि की उष्णता के ग्रहण में वह्नेतरत्व उपाधि हो जाता है। गंगेशोपाध्याय कहते हैं कि पक्षेतरत्व (वन्हीतरत्व) का साध्य (अनुष्णत्व) के व्यापकत्व और साधन (कृतकत्व) के अव्यापकत्व के ग्रहण में पक्षेतरत्व (वन्हीतरत्व) उपाधि हो जाने से अनुमान मात्र का उच्छेद हो जाना चाहिये। अतः मीमांसक का मत मान्य नहीं है। यदि कोई यह कहता है कि पक्षेतरत्व को अनुमान मात्र का उच्छेदकत्व होने से ही वह उपाधि नहीं है तो गंगेशोपाध्याय के अनुसार वह पुरुष भ्रान्त है। इस कथन का भाव यह है कि पक्षेतरत्व से अनुमान मात्र का उच्छेद हो जाता है और उपाधि की संकल्पना अनुमान में संभव है तो पुनः गंगेशोपाध्याय उसे (पक्षेतर को) उपाधि कैसे कह सकते है? यह प्रश्न करने वाले को गंगेशोपाध्याय भ्रान्त कहते हैं। गंगेशोपाध्याय के अनुसार सहचर मात्र पर आधारित व्याप्ति के दोषत्व का आरोप उपाधित्व के कारण नहीं अपितु साध्य (अनुष्ण) के व्यापकत्व (पक्षेतरत्वं–वन्हीतरत्व) के कारण पक्ष (वह्नि) में साध्य (अनुष्ण) के वियोग से तथा पक्ष में साध्य की व्यावर्त्तकता के कारण व्यापक के वियोग में व्याप्य के वियोग का वज्रलेप होने से होता है। गंगेशोपाध्याय के अनुसार इस वज्रलेप के कारण अनुमान का उच्छेद होता है, न कि पक्षेतरत्व के उपाधित्व के कारण। गंगेशोपाध्याय उपर किये गये चर्चा को निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं– "ये चानुकूलतर्कं विनैव सहचारादिदर्शनमात्रेण व्याप्तिग्रहं वदन्ति, तेषां पक्षेतरत्वस्य साध्यव्यापकत्वग्रहेऽनुमानमात्रमुच्छिद्येत, अनुमानमा–त्रोच्छेदकत्वादेव पक्षेतरो नोपाधिरितिं चेत्, भ्रान्तोऽसि, न हि वयमुपाधित्वेन तस्य दोषत्वमाचक्ष्महे, साध्यव्यापकत्वेन तद्व्यतिरेकात् पक्षे साध्यव्यावर्त्तकतया व्यापकव्यतिरेके व्याप्यव्यतिरेकस्य वज्रलेपाच्च।"

वस्तुतः तर्क में लगाये गये अनवस्था दोष का निराकरण करना नैयायिकों के लिये अनविार्य था, अन्यथा तर्क स्वयं दोषपूर्ण हो जाने से सहचार में व्यभिचार की शंका का निराकरण नहीं होने पर व्याप्ति का निश्चय

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ही नहीं हो पाता। इसी से चिन्तित होकर उदयनाचार्य स्व–क्रिया व्याघात की संकल्पना पर आधारित युक्ति से अनवस्था दोष का निराकरण करते हैं। वाह्यार्थ एवं व्यवहारिक जीवन के यथार्थ अनुभव पर आश्रित उदयनाचार्य की यह युक्ति इतनी प्रबल एवं प्रभावशाली थी कि श्रीहर्ष इसे खंडित करने के लिये अपनी सारी प्रतिभा लगा डाली थी। गंगेशोपाध्याय श्रीहर्ष द्वारा उदयनाचार्य की युक्ति के खंडन को खंडित कर पुनः उदयनाचार्य के मत को स्थापित करते हैं। कुछ प्राचीन नैयायिक एवं एकदेशीय नैयायिक द्वारा अनवस्था दोष के निराकरण में किये गये प्रयासों में भी दोष दिखाते हुए उसे गंगेशोपाध्याय अस्वीकार कर अपना मत स्थापित करते हैं। मीमांसक तर्क के विना ही सहचार–दर्शन मात्र से व्याप्ति का ग्रहण करते हैं। मीमांसक का यह मत गंगेशोपाध्याय को मान्य नहीं है। इस प्रकार गंगेशोपाध्याय की तर्कना–शक्ति एवं परिष्कार–पद्धति के कारण न्यायशास्त्र एक नयी दिशा के ओर अग्रसर हो जाता है।

VI
उपसंहार

लेख के प्रथम खंड में न्यायचतुर्ग्रंथिका एवं न्यायकुसुमाञ्जलिः को केन्द्र में रखकर तर्क के प्रत्यय की मीमांसा की गयी है। प्रत्येक ग्रंथ की अपनी एक योजना एवं पद्धति होती है और वह ग्रंथ तदनुसार ही प्रतिपाद्य को प्रतिपादित करता है। योजना एवं पद्धति का यह भेद भाष्य, वार्त्तिक एवं टीका के उद्श्यों में भिन्नता के कारण होता है। भाष्यकार सूत्र के पदों का संक्षिप्त वर्णन करते हुए सूत्र का निहतार्थ मात्र स्पष्ट करते हैं। सूत्र के पदों का भाषायी–विश्लेषण कर उन पदों की वाह्य जगत के साथ सम्बद्ध करने की योजना वार्त्तिकम् से आरम्भ होती हैं। वार्त्तिककार सूत्रार्थ को ग्रहण करते हुए भाषा एवं वाह्यार्थ का विश्लेषण कर न्याय के वाह्यार्थवादी सिद्धान्त को संपोषित करते हुए तर्क को संशय, निर्णय एवं अनुमान से भिन्न करते हैं। इससे प्रमाण–मीमांसा में तर्क की स्थिति भी स्वतः स्पष्ट हो जाती है। प्रमाण से सम्बन्धित प्रत्ययों की ज्ञाता–केन्द्रित व्याख्या वस्तुनिष्ठता का विरोधी है, और उससे हमारा ज्ञान ज्ञाता–केन्द्रित हो जाता है। इसी को ध्यान में रखते हुए वार्त्तिककार तर्क सूत्र की ज्ञेय–केन्द्रित व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। वार्त्तिककार पदों को उसी समास से विग्रह करते हैं जिससे कि ज्ञेय–केन्द्रित व्याख्या संभव हो। जो पद जिस विभक्ति में है उससे इतर विभक्ति का वार्त्तिककार

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रयोग करते हैं जिससे कि वाह्यार्थ संपूर्णता में अभिव्यक्त हो सके। व्याकरण–शास्त्र में इसे विभक्ति–व्यत्यय के नाम से जाना जाता है। तात्पर्यटीककार वाचस्पति मिश्र की योजना को समन्वयात्मक योजना कहा जा सकता है क्योंकि वे भाष्यकार एवं वार्त्तिककार दोनों की योजनाओं की समन्वित कर सूत्र को स्पष्ट करते हैं। टीकाकार सूत्र के पदों का विश्लेषण करते हैं तथा उन पदों के निर्देश्यों की तार्किक व्याख्या कर भाष्यकार एवं वार्त्तिककार के मतों को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि तर्क का आश्रय अंसिद्ध होने से तर्क को विषय के निश्चय का योग नहीं होता है। तर्क प्रमाण का अनुग्राहक मात्र होता है। विषय का निश्चय हम प्रमाण से करते हैं। इन तीनों योजनाओं का पर्यवसान उदयनाचार्य की परिशुद्धिः एवं न्यायकुसुमाञ्जलिः में होता है। सामान्य रूप से ऊह को तर्क का विशेषण कहा गया है जिससे कि तर्क को अनुमान न समझ लिया जाय। तर्क का यही विशेषण उसे अनुमान से भिन्न करता है। परन्तु उदयनाचार्य मात्र ऊह को तर्क नहीं अपितु व्यापार करते हुए ऊह को तर्क कहते हैं। तर्क को उदयनाचार्य पाँच प्रकारों में विभाजित करते हैं और उन्हीं पाँचों में से किसी भी एक से अनिष्टापत्ति का आरोप करते हैं। अपने पूर्वाचार्यों से भिन्न उदयनाचार्य तर्क को आहार्यारोप रूप मिथ्याज्ञान मानते हैं और इसी आधार पर श्रीशंकर मिश्र तर्क में अतिव्याप्ति दोष का निराकरण करते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सूत्र में 'ऊह' पद का प्रयोग तर्क के लक्षण के प्रतिपादन के लिये, 'कारणोपपत्तितः पद का प्रयोग कारण के निर्देश के लिये, 'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे' का प्रयोग विषय के निर्देश के लिये, तथा 'तत्त्वज्ञानार्थ' पद का प्रयोग फल के निर्देश के लिये किया गया है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि न्यायचतुर्ग्रंथिका में इन्हीं पदों का भाषायी एवं तात्त्विक विश्लेषण कर न्याय तर्क को वाह्यार्थवादी दृष्टि से व्याख्यापित करता है।

उदयनाचार्य की न्यायकुसुमाञ्जलिः में तर्क विषयक चर्चा कुछ और दिशा ले लेती है। अपनी वस्तुवादी व्यवस्था के आधार पर जिस प्रकार से उदयनाचार्य तर्क में अन्तर्निहित अनवस्था दोष का निराकरण करते हैं वह उनकी बौद्धिक क्षमता का अपूर्व उदाहरण है। इस ग्रंथ में तर्क की चर्चा व्याप्ति–ग्रह में तथा कार्य–कारण सम्बन्ध की स्थापना में शंका निवारक के रूप में की गयी है। तर्क में अवतरित अनवस्था दोष से बचने के लिये उदयनाचार्य स्वक्रियाव्याघात नामक प्रत्यय अवधारित करते हैं। उनके

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अनुसार शंका करने की एक सीमा होती है और उस सीमा से परे शंका नहीं करनी चाहिये। हमें वहीं आशंका करनी चाहिये जिस आशंका के विषय–वस्तु में शंका करने से स्वक्रिया का व्याघात नहीं होता है। अनुमान प्रमाण तथा कार्य–कारण सम्बन्ध की स्थापना करना उनका उद्देश्य था। इसके लिये तर्क द्वारा विपक्ष की इच्छा को विच्छिन्न कर भूयोदर्शन से प्राप्त लिंग और साध्य के साहचर्य को व्याप्ति के रूप में तथा कार्य–कारण सम्बन्ध की स्थापना करते हैं। उदयनाचार्य के इस मत का खंडन श्रीहर्ष अपने खंडनखंडखाद्यम् में करते हैं। गंगेशोपाध्याय श्रीहर्ष के मत को खंडित कर उदयनाचार्य के मत को पुनः स्थापित करते हैं।

द्वितीय खंड में भासर्वज्ञ एवं श्रीवल्लभाचार्य के मतों को प्रस्तुत किया है। भासर्वज्ञ का वैशिष्ट्य है कि वे अपने पूर्वाचार्यों से ही नहीं सूत्रकार से भी भिन्न मत रखते हैं। पूर्वाचार्यों के अनुसार तर्क तत्त्व–ज्ञान के विषय का विवेचक होने से तत्त्व–ज्ञानार्थ होता है, परन्तु भासर्वज्ञ तर्क को चार दृष्टियों से देखते हैं और तदनुसार चार प्रकारक फलों का निर्देश करते हैं। इसी खंड में न्यायलीलावती की चर्चा की गयी है। वाचस्पति एवं उदयनाचार्य के पश्चात् न्यायलीलावती के रचनाकार श्रीवल्लभाचार्य सबसे प्रभावी नैयायिक हैं। यह एक परीक्षापरक ग्रंथ है जहाँ उद्देश एवं लक्षण का प्रतिपादन नहीं किया गया है। यह ग्रंथ पूर्व पक्ष को सूत्र रूपेण उपस्थितकर उसकी समालोचना करते हुए सयुक्तिक समाधान एवं निष्कर्ष उपस्थित करता है। प्रौढ़वाद प्रणाली पर आधारित यह ग्रंथ प्राचीन पद्धति का अनुसरण करते हुए तर्क विषयक अनेक युक्तियों की स्थापना करता है। उदयनाचार्य एवं गंगेशोपाध्याय के मध्य अवस्थित श्रीवल्लभाचार्य नव्य–न्याय को सर्वाधिक प्रभावित किया है। न्यायलीलावती में तर्क के स्वरूप एवं फल पर विचार करते हुए ग्रंथकार उदयनाचार्य, वाचस्पति एवं जयन्तभट्ट के मत को खंडित कर तर्क विषयक चर्चा को एक नई दिशा प्रदान करते हैं।

लेख के तृतीय खंड में नव्य–न्याय के प्रणेता श्री गंगेशोपाध्याय के तर्क विषयक मत को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। उनका मूल लक्ष्य अनुमान प्रमाण के विरोध में श्रीहर्ष द्वारा दिये गये युक्तियों को खंडित कर उदयनाचार्य के मत को नयी युक्तियों के आधार पर स्थापित करना तथा अनुमान प्रमाण को व्यवस्थित करना था। इसके लिये यह आवश्यक था कि श्रीहर्ष द्वारा तर्क में लगाये गये अनवस्था दोष का निराकरण कर तर्क के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

शंकानिवर्त्तकत्व को पुनः स्थापित किया जाय। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये गंगेशोपाध्याय जन्य–जनक भाव में समवहितत्त्व (समवृत्तित्त्व) होने के नियम के आधार पर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि शंका कैसे और किस रूप में उत्पन्न हो सकती है तथा शंका करने से स्व–क्रिया का व्याघात कैसे होता है। उदयनाचार्य के मत को गंगेशोपाध्याय अपनी युक्तियों से पुनर्स्थापित करते हुए कहते हैं कि वहीं आशंका की जाती है जिस आशंक्यमान में शंका करने से स्वक्रिया का व्याघात नहीं होता है। इस युक्ति के विरोध में श्रीहर्ष द्वारा जिस प्रकारक युक्ति दी जा सकती है उस युक्ति को प्रस्तुत कर गंगेशोपाध्याय उसका खण्डन करते हैं। तर्क के शंकानिवर्त्तकत्व को खण्डित करना श्रीहर्ष का लक्ष्य था कि अनुमान–प्रमाण अस्वीकार किया जा सके। गंगेशोपाध्याय स्व–क्रिया को शंका का प्रतिबन्धक मानकर इस युक्ति का खण्डन करते हैं। वे जनक और प्रयोजक में भेद स्थापित कर तर्क को प्रमाण मानने से अस्वीकार कर जैन नैयायिक के मत पर आश्रित श्रीहर्ष के मत का खंडन करते हैं। निश्चय ही श्रीहर्ष के मत को अन्य नैयायिकों ने भी खंडित करने का प्रयास किया था परन्तु उन्हें बहुत सफलता नहीं मिल सकी। यही कारण था कि गंगेशोपाध्याय उन नैयायिकों की युक्तियों में दोष दिखाकर उदयनाचार्य की युक्ति को संपोषित करते हैं। तर्क निश्चित रूप से प्रमाण नहीं है, परन्तु व्याप्ति के ग्रहण में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है और तर्क के इसी महत्ता को स्थापित करने के लिये गंगेशोपाध्याय मीमांसकों के मत का खंडन करते हैं। लेख के लक्ष्य को संपूर्णता में प्राप्त करने के लिये लेख विस्तृत हो गया है, तदर्थ क्षमा याचना।

सी–1/69, सेक्टर–55,
(पार्क प्लाजा के पीछे),
नोईडा–201301

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी –

1. *तर्कभाषा, केशव मिश्र, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 582, 1995*
2. *सवात्स्यायनभाष्यं गौतमीयन्यायदर्शनम्, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा).*
3. *भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, सूत्र 1/1/40, पृ. 36, 1997*
4. *न्यायमञ्जरी, तृतीयो भागः, जयन्त भट्ट, श्री गौरीनाथ शास्त्री (संपा), संपूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी, पृ. 107, 1984*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

5. वही, पृ. 109
6. वही, पृ. 110
7. सवात्स्यायनभाष्यं गौतमीयन्यायदर्शनम्, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा),
8. भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 36, 1997
9. न्यायभाष्यवार्त्तिकम्, उद्योतकर, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 133, 1997
10. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, वाचस्पति मिश्र, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 261, 1996
11. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यपरिशुद्धिः, उदयनाचार्य, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 304, 1996
12. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, वाचस्पति मिश्र, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 261, 1996
13. वही, पृ. 262
14. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यपरिशुद्धिः, उदयनाचार्य, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 304, 1996
15. वही, पृ. 304
16. वही, पृ. 304
17. वही, पृ. 304
18. वही, पृ. 304
19. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, वाचस्पति मिश्र, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 261, 1996
20. वही, पृ. 261
21. न्यायभाष्यवार्त्तिकम्, उद्योतकर, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 133, 1997
22. सवात्स्यायनंभाष्यगौतमीयन्यायदर्शनम्, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 36–37, 1997
23. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, वाचस्पति मिश्र, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 261–62, 1996
24. सवात्स्यायनभाष्यं गौतमीयन्यायदर्शनम्, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली, पृ. 37, 1997
25. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, वाचस्पति मिश्र, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्,नई दिल्ली, पृ. 262, 1996
26. न्यायभाष्यवार्त्तिकम्, उद्योतकर, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 131, 1997
27. वही, पृ. 133
28. सवात्स्यायनभाष्यं गौतमीयन्यायदर्शनम्, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 37, 1997

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

29. न्यायभाष्यवार्त्तिकम्, उद्योतकर, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 133, 1997
30. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, वाचस्पति मिश्र, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 262, 1996
31. वही, पृ. 262
32. वही, पृ. 262
33. वही, पृ. 262
34. सवात्स्यायनभाष्यं गौतमीयन्यायदर्शनम्, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 37, 1997
35. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, वाचस्पति मिश्र, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 262, 1996
36. वही, पृ. 262
37. वही, पृ. 262
38. वही, पृ. 262
39. न्यायभाश्यवार्त्तिकम्, उद्योतकर, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 131, 1997
40. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, वाचस्पति मिश्र, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 262, 1996
41. वही, पृ. 263
42. वही, पृ. 262
43. न्यायभाश्यवार्त्तिकम्, उद्योतकर, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 131–32, 1997
44. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, वाचस्पति मिश्र, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 263, 1996
45. वही, पृ. 263
46. न्यायभाश्यवार्त्तिकम्, उद्योतकर, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 132, 1997
47. वही, पृ. 132
48. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, वाचस्पति मिश्र, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 263, 1996
49. वही, पृ. 264
50. न्यायभाष्यंवार्त्तिकम्, उद्योतकर, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 132, 1997
51. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, वाचस्पति मिश्र, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 264, 1996
52. न्यायभाष्यंवार्त्तिकम्, उद्योतकर, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 133, 1997

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

53. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, वाचस्पति मिश्र, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 264, 1996
54. वही, पृ. 264
55. वही, पृ. 264
56. वही, पृ. 264
57. वही, पृ. 264
58. न्यायभाष्यवार्त्तिकम्, उद्योतकर, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 133, 1997
59. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, वाचस्पति मिश्र, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 264, 1996
60. वही, पृ. 264
61. वही, पृ. 264
62. वही, पृ. 264
63. न्यायभाष्यवार्त्तिकम्, उद्योतकर, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 134, 1997
64. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, वाचस्पति मिश्र, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 265, 1996
65. वही, पृ. 265
66. वही, पृ. 265
67. न्यायभाष्यवार्त्तिकम्, उद्योतकर, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 134, 1997
68. न्यायकुसुमाञ्जलिः, उदयनाचार्य, दुर्गाधर झा (संपा. और व्याख्याकार), वाराणसेय संस्कृतविश्वविद्यालयः, वाराणसी, पृ. 307, 1973
69. वही, पृ. 308
70. वही, पृ. 309
71. वही, पृ. 310
72. वही, पृ. 311
73. वही, पृ. 312–13
74. वही, पृ. 314
75. न्यायभूषणम्, स्वामी योगीन्द्रानन्द (संपा), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पृ. 68, 1968
76. न्यायलीलावती, श्रीवल्लभाचार्य, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 514, 1991
77. न्यायलीलावती कण्ठाभरणम्, श्री शंकर मिश्र, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 514, 1991
78. न्यायलीलावतीप्रकाशः, श्रीवर्धमानोपाध्याय, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 514, 1991

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

79. वही, पृ. 514
80. न्यायलीलावतीकण्ठाभरणम्, श्रीशंकर मिश्र, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 514, 1991
81. वही, पृ. 514
82. न्यायलीलावतीप्रकाश : श्रीवर्धमानोपाध्याय, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 514, 1991
83. न्यायलीलावतीकण्ठाभरणम्, श्रीशंकर मिश्र, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 514, 1991
84. न्यायलीलावतीप्रकाशविवृतिः, श्री भगीरथ ठक्कुरः, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 514, 1991
85. न्यायलीलावतीप्रकाशः, श्रीवर्धमानोपाध्याय, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 515, 1991
86. न्यायलीलावतीकण्ठाभरणम्, श्रीशंकर मिश्र, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 514, 1991
87. न्यायलीलावतीप्रकाशः, श्रीवर्धमानोपाध्याय, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 515, 1991
88. न्यायलीलावतीकण्ठाभरणम्, श्रीशंकर मिश्र, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 515, 1991
89. न्यायलीलावती, श्रीवल्लभाचार्य, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 515–16, 1991
90. वही, पृ. 521–22
91. न्यायलीलावतीकण्ठाभरणम्, श्रीशंकर मिश्र, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस वाराणसी, पृ. 515, 1991
92. न्यायलीलावतीप्रकाशः, श्रीवर्धमानोपाध्याय, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 516, 1991
93. न्यायलीलावती, श्रीवल्लभाचार्य, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 516, 1991
94. न्यायलीलावतीप्रकाशः, श्रीवर्धमानोपाध्याय, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 516, 1991
95. वहीं, पृ. 516
96. न्यायलीलावती, श्रीवल्लभाचार्य, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 516–17, 1991
97. न्यायलीलावतीकण्ठाभरणम्, श्रीशंकर मिश्र, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 516, 1991
98. न्यायलीलावतीप्रकाशः, श्रीवर्धमानोपाध्याय, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 516, 1991
99. न्यायलीलावती, श्रीवल्लभाचार्य, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 517, 1991

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

100. न्यायलीलावतीप्रकाशः, श्रीवर्धमानोपाध्याय, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 517, 1991
101. न्यायलीलावती, श्रीवल्लभाचार्य, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 517, 1991
102. न्यायलीलावतीप्रकाशः, श्रीवर्धमानोपाध्याय, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 517, 1991
103. न्यायलीलावती, श्रीवल्लभाचार्य, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 517, 1991
104. न्यायलीलावतीप्रकाशः श्रीवर्धमानोपाध्याय, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 517, 1991
105. न्यायलीलावती, श्रीवल्लभाचार्य, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 517–18, 1991
106. न्यायलीलावतीप्रकाशः, श्रीवर्धमानोपाध्याय, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 517, 1991
107. न्यायलीलावती, श्रीवल्लभाचार्य, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 518, 1991
108. न्यायलीलावतीकण्ठाभरणम्, श्रीशंकर मिश्र, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 518, 1991
109. न्यायलीलावतीप्रकाशः, श्रीवर्धमानोपाध्याय, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 518, 1991
110. न्यायलीलावती, श्रीवल्लभाचार्य, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 518–20, 1991
111. वही, पृ. 520
112. न्यायलीलावतीकण्ठाभरणम्, श्रीशंकर मिश्र, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 520, 1991
113. न्यायलीलावतीप्रकाशः, श्रीवर्धमानोपाध्याय, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 520, 1991
114. वही, पृ. 520
115. न्यायलीलावती कण्ठाभरणम्, श्रीशंकर मिश्र, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 520, 1991
116. न्यायलीलावतीप्रकाशविवृतिः, श्रीभगीरथ ठक्कुरः, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 522, 1991
117. न्यायलीलावतीप्रकाशः श्रीवर्धमानोपाध्याय, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 520, 1991
118. वही, पृ. 520
119. न्यायलीलावतीकण्ठाभरणम्, श्रीशंकर मिश्र, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 521, 1991

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

120. न्यायलीलावतीकण्ठाभरणम्, श्रीशंकर मिश्र, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 521, 1991
121. वही, पृ. 521
122. न्यायलीलावती, श्रीवल्लभाचार्य, हरिहर शास्त्री (संपा), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, पृ. 521–22, 1991
123. न्यायकुसुमाञ्जलिः, उदयनाचार्य, दुर्गाधर झा (संपा. और व्याख्याकार), वाराणसेय संस्कृतविश्वविद्यालयः वाराणसी, पृ. 309, 1973
124. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, वाचस्पति मिश्र, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 261, 1996
125. न्यायमञ्जरी, तृतीयो भागः, जयन्तभट्ट, गौरीनाथ शास्त्री (संपा), सम्पूर्णानन्द–संस्कृतविश्वविद्यालयः, वाराणसी, पृ. 107, 1984
126. तत्त्वचिन्तामणिः, अनुमानखंडम्, द्वितीयो भागः, प्रथमः परिच्छेदः, श्री गंगेशोपाध्याय, कामाख्यानाथ तर्कवागीश (संपा), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पृ. 210–12, 1990
127. तत्त्वचिन्तामणिरहस्यः, अनुमानखण्डम्, द्वितीयो भागः, प्रथमः परिच्छेदः, मथुरानाथ तर्कवागीश, कामाख्यानाथ तर्कवागीश (संपा), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पृ. 219, 1990
128. वही, पृ. 233
129. वही, पृ. 234
130. तत्त्वचिन्तामणिः, अनुमानखण्डम्, द्वितीयो भागः, प्रथमः परिच्छेदः, श्री गंगेशोपाध्याय, कामाख्यानाथ तर्कवागीश (संपा), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पृ. 132–33, 1990
131. तत्त्वचिन्तामणिरहस्यः, अनुमानखण्डम्, द्वितीयो भागः, प्रथमः परिच्छेदः, मथुरानाथ तर्कवागीश, कामाख्यानाथ तर्कवागीश (संपा), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पृ. 235, 1990
132. वही, पृ. 235
133. वही, पृ. 235
134. वही, पृ. 236
135. वही, पृ. 236
136. तत्त्वचिन्तामणिः, अनुमानखण्डम्, द्वितीयो भागः, प्रथमः परिच्छेदः, श्री गंगेशोपाध्याय, कामाख्यानाथ तर्कवागीश (संपा), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पृ. 233–34, 1990
137. वही, पृ. 234
138. तत्त्वचिन्तामणिरहस्यः, अनुमानखण्डम्, द्वितीयो भागः, प्रथमः परिच्छेदः, मथुरानाथ तर्कवागीश, कामाख्यानाथ तर्कवागीश (संपा), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पृ. 238, 1990
139. वही, पृ. 238

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

140. वही, पृ. 238
141. तत्त्वचिन्तामणिः, अनुमानखण्डम्, द्वितीयो भागः, प्रथमः परिच्छेदः, श्री गंगेशोपाध्याय, कामाख्यानाथ तर्कवागीश (संपा), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पृ. 235, 1990
142. तत्त्वचिन्तामणिरहस्यः, अनुमानखण्डम्, द्वितीयो भागः, प्रथमः परिच्छेदः, मथुरानाथ तर्कवागीश, कामाख्यानाथ तर्कवागीश (संपा), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पृ. 240, 1990
143. वही, पृ. 239
144. वही, पृ. 240
145. तत्त्वचिन्तामणिः, अनुमानखण्डम्, द्वितीयो भागः, प्रथमः परिच्छेदः, श्री गंगेशोपाध्याय, कामाख्यानाथ तर्कवागीश (संपा), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, पृ. 236, 1990
146. वही, पृ. 237–38
147. तत्त्वचिन्तामणिरहस्यः, अनुमानखण्डम्, द्वितीयो भागः, प्रथमः परिच्छेदः, मथुरानाथ तर्कवागीश, कामाख्यानाथ तर्कवागीश (संपा), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पृ. 240, 1990
148. वही, पृ. 240
149. तत्त्वचिन्तामणिः, अनुमानखण्डम्, द्वितीयो भागः, प्रथमः परिच्छेदः, श्री गंगेशोपाध्याय, कामाख्यानाथ तर्कवागीश (संपा), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पृ. 240–41, 1990

◆◆◆

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अंतःसाक्ष्य

मुकुन्द लाठ

बाहर के जगत् को हम इन्द्रियों से जानते हैं। बल्कि यों कहना चाहिये कि हम 'बाह्य जगत्' कहते ही उसे हैं जिसे हम इन्द्रियों से जानते हैं। देश–काल में जानते हैं। जगत् की बाह्यता होती ही इस बात में है कि उसका बोध हमें देश–काल में इन्द्रियों के माध्यम से होता है, जिन्हें हम बाह्योन्मुख पाते हैं।

पर स्पष्ट ही यह बाह्योन्मुखता अंतःसापेक्ष है। जो बाहर है, वह हम से बाहर है, हम इसे बाहर पाते हैं, और यह पाना, पाने का बोध, हमारे अंतः का व्यापार है। हम यह जानते–समझते भी हैं कि बोध का यह व्यापार बाहर नहीं हैं। इन्द्रिय के माध्यम से हमें बाह्य की अंतः–अनुभूति होती है। इस अंतः–अनुभूति के बिना इन्द्रिय में इन्द्रियत्व की बात भी नहीं की जा सकती।

मैं यहां 'हम' शब्द का प्रयोग कर रहा हूं ('हम ऐसा पाते हैं', कह रहा हूं), पर क्या 'मैं' का प्रयोग ही उचित नहीं है? परीक्षक सहज ही दावे के साथ कह सकता है कि 'मैं' का ही प्रयोग सही है, क्योंकि पाता मैं हूं, जो बाहर है वह दिखता मुझे है, अन्य का देखना मुझे नहीं दिखता, अन्य मेरे लिये बाह्य ही होता है, उसका कोई अंतः है भी यह गोचर नहीं होता, मेरे बाह्य–बोध के माध्यम (इन्द्रिय) की पहुँच के भी बिल्कुल बाहर होता है। मेरा बोध, चाहे अंतः का हो या बाह्य का, मेरा ही बोध होता है। मैं जब 'हमारा' बोध की बात करता हूं तो अपने ही अंतःबोध में रहता हुआ करता हूं। पर के अंतः में मेरा कोई प्रवेश नहीं, और इसके बिना उसका कोई साक्षात् बोध नहीं हो सकता जैसा कि बाह्य जगत् का होता है।

फिर भी मैं अनायास ही अन्य के अंतः को अपने ही अंतः की तरह ही प्रदत्त ही नहीं मान कर चलता, बल्कि यह भी मान कर चलता हूं कि मुझे जिस बाह्य जगत् का बोध है वह बाह्य–जगत् अन्य–साधारण है, अन्य को भी वैसा ही प्रदत्त है जैसा कि मुझे। मुझे बाहर कुछ दीखे, देश–काल में दिखती कोई वस्तु या घटती कोई घटना, पर वह अन्य को न दिखे, सचमुच

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

न दिखे, तो मुझे अपने ही देखने पर संदेह होगा। इसका एक अमोघ, निष्कम्प सा कारण यह है कि मुझमें यह अगाध, आश्वासन जागता रहता है, अपने बाह्य–बोध से अविच्छेद्य यह बोध जागता रहता है, कि बाह्य–जगत् द्रष्टा–मात्र बोध–कर्ता मात्र – को प्रदत्त है। वह अपने आप में है, और वह मेरे लिये ही नहीं, अन्य के लिये भी है : विषयी मात्र के लिये है; ऐसे जीव मात्र के लिये है जिसमें 'अंतः' की बात की जा सकती है।

मैं समझता हूं इस संदर्भ में इन्द्रिय पर विचार करना उपयुक्त होगा : इस प्रचलित धारणा के परिप्रेक्ष्य में कि इन्द्रियों में मन की भी गिनती है।

हम बाह्य–जगत् को इन्द्रिय के माध्यम से जानते ही नहीं, वही हमारे लिये स्वतंत्र बाह्यता का प्रमाण भी होती है। अर्थात्, हम मान कर चलते हैं कि इन्द्रिय मेरी नहीं, मुझमें है : सामान्य है, निर्वैयक्तिक है, चाहे इन्द्रिय–जन्य बोध मेरे स्वगत, व्यक्तिगत बोध के रूप में ही क्यों न उभरता हो। पर इस बात से प्रकट ही यह तात्पर्य भी उभरता है कि इन्द्रिय ही नहीं, इन्द्रिय–जन्य बोध भी निर्वैयक्तिक सामान्य बोध होता है, वह मेरा ही हो तो किसी स्वतंत्र बाह्य–जगत् की बात ही नहीं की जा सकती।

पर इन्द्रिय–बोध इन्द्रिय का नहीं, अंतः का बोध होता है। मैं समझता हूं, हमारे यहां इस विशेष इन्द्रिय–जन्य बोध के लिये ही 'मन' की बात की जाती है। मन बाह्य नहीं, अंतः है। पर हमारे यहां उसकी गिनती इन्द्रियों में की गई है। ऐसा क्यों, यह सोचने की बात है। स्पष्ट ही, मन को बाह्य इन्द्रियों में नहीं गिना जा सकता, उसे अंतः में ही रखा जा सकता है। उसे अन्तरिन्द्रिय कहा भी गया है। मन को 'इन्द्रिय' कहने का आशय यही बनता दिखता है कि इससे इन्द्रिय–बोध इन्द्रियगत रहता हुआ भी अंतः–स्थ हो जाता है। कह सकते हैं कि मन इन्द्रिय को अंतः में ले आने का द्वार या सेतु है : एक ऐसा सेतु जो इन्द्रिय को इन्द्रियत्व की हानि के बिना बाह्य से अंतः में ले आता है। यह ठीक है कि इन्द्रिय का अपना बोध नहीं होता, पर 'मन' इन्द्रिय के प्रत्यक्ष को निर्विकार, यों का यों, अंतः के बोध में जगा देता है। यों मन को इन्द्रिय का अंतः–स्थित बोध–चक्षु या बोधेन्द्रिय कह सकते हैं। कहना न होगा कि मन की धारणा में यह ऊह्य है कि मेरे अंतः में ऐसा भी कुछ है जो इन्द्रिय की तरह ही मेरे व्यक्ति–रूप या मेरे स्व से ऊर्ध्व है, सामान्य है, अन्य–साधारण है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पर यहां एक व्यामोह से बचना आवश्यक है। मन को राग–द्वेष, इच्छा–संकल्प, सुख–दुख का भी आश्रय कहा गया है। पर जिस इन्द्रिय–रूप ज्ञानेन्द्रिय–रूप – 'मन' की हम यहां बात कर रहे हैं, वह व्यक्तिगत 'स्व' के इच्छा–द्वेष, सुख–दुःख जैसे बोधों का आश्रय नहीं हो सकता। ऐसा आशय तब उभरता दिखता है जब मन को 'भोगेन्द्रिय' के रूप में देखा जाये, पर उसकी बात हम आगे करेंगे; यहां आशय मन के ज्ञानेन्द्रिय होने से है। ज्ञानेन्द्रिय–रूप 'मन' को बाह्य–जगत् के स्वतंत्र इन्द्रिय–प्रत्यक्ष के अंतः–स्थ बोध के रूप में ही समझा जा सकता है, सुख–दुख, राग–द्वेष के आश्रय के रूप में नहीं। ऐसे ज्ञानेन्द्रिय 'मन' के बिना बाह्य–जगत् का इन्द्रिय–जन्य सर्वसामान्य अध्यवसाय संभव नहीं।

पर फिर प्रश्न होगा कि मन को एक मानने से काम चल सकता है क्या? यह सोचिये। भिन्न इन्द्रियां नितांत भिन्न अनुभव जगाती हैं। उनमें कोई परस्पर–भाव नहीं उभरता : कान को दिखता नहीं, आँख को सुनता नहीं। मन का काम अगर इन्द्रिय–प्रत्यक्ष को अंतः–स्थ कर देना मात्र हो तो मन–पंचक की कल्पना करनी होगी। फिर मन एक क्यों? मन का एकत्व वस्तु–बोध के एकत्व, उसके सर्व–साधारण तादात्म्य को बनाये रखने के लिये ही हो सकता है। यह एकत्व इन्द्रियों के वर्ण, स्पर्श, गंध के अनुभव से ऊर्ध्व ही हो सकता है। इस ऊर्ध्व मन से ही भिन्न द्रष्टाओं को भिन्न परिप्रेक्ष्य से दिखती हुई भी वस्तु एक ही तद्–वस्तु के रूप में ज्ञात होती है; जगत् ही तत्–जगत् के रूप में ज्ञात होता है। पर ऐसा है तो मन को केवल इन्द्रिय कह देने से बात नहीं बन सकती। उसमें अतीन्द्रियत्व मानना होगा उसे इन्द्रियातिक्रामी समझना होगा। हम जो इन्द्रियों के विच्छिन्न बोध को अविच्छिन्न वस्तु के रूप में ग्रहण करते हैं, यह इन्द्रिय–रूप मन का काम नहीं हो सकता। जिस अंतः–बोध को हम यहां मन कह रहे हैं, वह इन्द्रिय की तरह निष्क्रिय ग्राहक मात्र नहीं होता, उसका अपना ग्रहण व्यापार होता है। वह अध्यवसाय करता है; वस्तु को नाम देता हुआ एक संबंध–योजना में रखता है। इन्द्रियमात्र कदापि नहीं हो सकता, चाहे इन्द्रिय का अंतः–स्थित प्रसार ही क्यों न हो। मन की धारणा में थोड़ा भी उतर कर देखिये तो मन का इन्द्रिय से ऊर्ध्व होना मन को एक मानने में ही ऊह्य है : अन्यथा इन्द्रिय की तरह उसे भी अनेक ही होना चाहिये। सच यह है कि इन्द्रियां वस्तु के तद्–वस्तु रूप अध्यवसाय के लिये संकेत मात्र का काम करती हैं। संकेत

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

का ग्रहण और उसका अर्थ मन करता है, और इस ग्राहक मन का अपना व्यापार है जो सामान्य होता है : सर्व–साधारण। या चाहें तो हम यहां मन के दो स्तरों की बात कर सकते हैं। कह सकते हैं कि इन्द्रिय–मन एक नहीं अनेक है। वह स्पर्श, रूप, घ्राण.. जैसे अनुभवों का जनक है। पर वस्तु–ग्राहक मन इन्द्रियोर्ध्व है। इन्द्रियोर्ध्व मन इन्द्रिय–रूपी मन के भिन्न–इन्द्रिय–ग्राह्य, परस्पर–असंश्लिष्ट गंध–रूप–रस–रंग को एक वस्तु के रूप में ग्रहण करता है। यह निष्क्रिय ग्रहण नहीं हो सकता। बल्कि इसे ग्रहण नहीं कह कर सृजन भी कहा जा सकता है। या चेतना की ही जगदुन्मुखता कहा जा सकता है जो एक जगत् का अपनी तरह से निर्माण करती है। यह निर्माण/ग्रहण एक अद्वय जगत् प्रस्तुत करता है, ऐसा जगत् जो अपने आप में स्वस्थित, स्व–योजना–प्रतिष्ठ होता है। यहां एक सर्व–सामान्य चित् की ओर भी इंगित देखा जा सकता है। ऐसा चित् जो वस्तु और वस्तु–ग्रहण दोनों को एकत्व में प्रतिष्ठित करता है। इसके बिना जगत् के योजना–प्रतिष्ठत्व का हमारे बोध में प्रतिष्ठ होना समझ में नहीं आता। पर जो भी हो, स्पष्ट ही बात यहां भिन्न इन्द्रिय–बोधों के समन्वय मात्र की नहीं है। बात जिसे हम 'मन' कह रहे हैं उसकी अपनी स्वतंत्र उन्मुखता, ग्राहकता की है। तभी इन्द्रिय कितनी ही क्यों न हो, एक हो या अनेक, ग्राहक 'मन' की उन्मुखता वही रहती है। ग्रहण एक अन्य–सामान्य, स्व–प्रतिष्ठ बाह्य वस्तु–जगत् का होता है, जिसमें हम विशिष्ट वस्तुओं को तज्जगत्–गत पाते हैं। 'मन' शब्द को यहां ऐसे अंतः–बोध का प्रतीक समझना चाहिये जो अतीन्द्रिय ग्राहक चेतना की सामान्यता में निहित है। यह चेतना सामान्य है और स्वरूपेण जगदुन्मुख है। इन्द्रिय–संकेत को माध्यम बनाती हुई यह चेतना जिस जगत् की ओर उन्मुख होती है उसे एक देश–काल में स्थित, साधारण 'बाह्य' वस्तु–जगत् के रूप में पाती/ग्रहण करती है। इन्द्रियां कम हों (जैसे बालांध में) या इन्द्रियों का व्यूह, इन्द्रियों की शक्ति ही भिन्न हो (जैसे भिन्न पशुओं में) तो भी वस्तु–बोध–और उसके साथ जागता एक सामान्येन प्रदत्त जगत् का बोध बना रहता है (चाहे उसमें जीव–जाति–गत भेद भी उभरता हो)।

इतना ही नहीं, मैं अपने स्वस्थित बोध में यह भी जानता रहता हूं कि मुझे प्रदत्त सर्व–साधारण बाह्य–जगत्,का बोध ही नहीं, उसमें–रहना–जीना भी 'मेरा' नहीं 'हमारा' है; मैं इस जगत् में अन्यों के साथ रहता–जीता हूं। हां, विशुद्ध विचार के व्योम में मैं विचार–कैवल्य साधता हुआ, अपोह करता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हुआ, बाह्य जगत् को अन्यों की उपस्थिति से रीता कर भी ले सकता हूं : 'मैं हूं, मेरा विचार है, और कुछ नहीं, कोई नहीं'। विचार में ऐसा किया जा सकता है; यहां तक कि 'मैं' को भी अदृश्य–से नेपथ्य में विलीन कर दिया जा सकता है (वैसे भी विचार की प्रक्रिया मेरे निजी, स्वगत 'मैं' को पीछे धकेलती ही आगे बढ़ती है)। पर इस सर्वग्रासी अपोह की प्रक्रिया में भी एक अनिवार्य अन्यापेक्षा से हम हट नहीं सकते। बात केवल इतनी ही नहीं कि विचार भाषा में होता है जो अन्य के बिना अकल्पनीय है; बात और गहरी है : विचार का व्यापार एक सामान्य विचार–परंपरा को ऊह्य रखता है जो स्वभावेन अन्य की उपस्थिति के संकेत पालती है। विचार अन्यों के विचार के बीच अपना स्थान बनाता हुआ ही व्यापृत होता है। मैं (या कोई अन्य विचारक 'मैं') विचार की एक संतति के भीतर रहता हुआ विचार करता है; इस व्यापार में अन्याभिमुखता स्वरूपेण निहित रहती है और विचार स्वभावेन इसके प्रति आत्मचेतन भी रहता है। यह भी सोचिये : क्षण भर के लिये मैं विचार को अन्य सब कुछ से हटा कर, 'मैं' से भी हटा कर, 'विचार हो रहा है', इस बोध तक सीमित कर भी लूं, तो भी विचार–संतति यहां थम नहीं सकती। विचार के नेपथ्य में विचार की परंपरा और यों अन्य विचारक की उपस्थिति बनी रहती है जो विचार की प्रक्रिया के बढ़ते ही उभर आती है। यह भी कह सकते हैं कि अन्य की उपस्थिति से ही नहीं, बाह्य जगत् की उपस्थिति से भी विचार पूरी तरह अपोहित नहीं हो सकता। विचार प्रत्ययों में होता है और हमारे प्रत्यय हमारी भाषा ही, जिनमें ये प्रत्यय होते हैं, बाह्य जगत् से ऐसी संश्लिष्ट होती है कि हम प्रत्यय को कितना ही उद्गृहीत, विशुद्ध–विचार–व्योम–में–प्रतिष्ठ रखें, जगत् की उपस्थिति द्योतित रहती ही है। भाषा में सोचते हुए हम उससे बच नहीं सकते। और सोचना भाषा ही में होता है।

पर यहां फिर भी विचार की इतर–विश्लिष्ट विशुद्धता के पक्ष में एक और बात कही जा सकती है। विचार को व्यापक अर्थ में लेते हुए हम कह सकते हैं कि गणित या संगीत भी विचार ही होता है। अब, प्रकट ही गणित या संगीत में बाह्य जगत् उपस्थित नहीं होता। पर यह देखिये कि अन्य की उपस्थिति फ़िर भी अपोहित नहीं होती। गणित, संगीत, ये शब्दमयी भाषा की तरह ही अन्य को ऊह्य रखते हैं। ये 'भाषा' ही की तरह प्रतीक–व्यवस्था के रूप या तंत्र हैं; भाषा की तरह ही निर्वैयक्तिक होते हुए उस चेतना के प्रकाश हैं जो अन्य–मनुष्य–साधारण होती है। अन्य की सहज अपेक्षा रखती

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है। तभी ये सामान्य सम्प्रेषण के व्यापार हैं; इनकी भी अपनी परंपरा होती है जो समाज में पलती है, जहां अन्य अनिवार्यतः ऊह्य रहता है। बल्कि यहां हम यह भी कह सकते हैं कि विचार के ये रूप यह दिखाते हैं कि हमारी अन्याभिमुखता की जड़ें जगदुन्मखता से भी गहरी हैं। और तभी ऐसा भी अनायास कहा जा सकता है, कहा ही गया है; कि जगत् हमारी इस सामान्य उन्मुखता की सृष्टि है, कल्पना है, अपने आप में उसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। उसे समष्टि–मन का (जीव की सामान्य चेतना का) स्वप्न कहा ही गया है (जैसे योगवासिष्ठ में)। और यों भी विषय की विषयी से स्वतंत्र होने की उपलब्धि तो विषयी को ही होती है, विषयित्व में रहते हुए होती है! विचार यह दिशा ले तो बाह्य–जगत् की स्वतंत्र सत्ता के बारे में गहरे प्रश्न उठते हैं, पर ऐसे प्रश्नों को यहां अप्रासंगिक समझता हूं। यहां यह देखिये कि विचार को हम कितने ही व्यापक अर्थ में क्यों न लें, विचार की प्रक्रिया योग की प्रक्रिया नहीं है, वह समाधि की ओर नहीं बढ़ती, बढ़ निकले तो फिर विचार नहीं रहता। विचार की अपनी प्रक्रिया में अन्याभिमुखता स्वरूप–निविष्ट रहती है।

हां, हम यह फिर भी कह सकते हैं कि विचार में जगत् को, अन्य को, विषय मात्र को ही मिथ्या, माया या शून्य या स्वप्न – ठहरा दें। पर रहता यह विचार ही है : अन्य–सामान्य। माया, मिथ्यात्व, शून्य, 'जगत् सपना', ये विचार के प्रत्यय हैं, विचार से अभिन्न होते हैं। यह जगत् के प्रति विचार की एक दृष्टि है, या भंगी या मुद्रा कहिये, जो बड़े आत्मचेतन भाव से अन्य दृष्टियों को और यों अन्य दृष्टिशीलों को – विपक्ष में रखती हुई उनकी अन्यता से अवगत ही नहीं आक्रांत रहती है; ऐसी अवगति में ही विवाद करती हुई पलती–बनती है। अन्य की अनवगति योग–समाधि में या मूर्छा में या निद्रा–सुषुप्ति जैसी अवस्थाओं में ही संभव है, जहां बोध विषय रहित हो जाता है।

सच तो यह है कि हमारी चेतना की उन्मुखता में ही अन्य और जगत् एक अतर्क्य भाव से जागते हैं, युगपत् जागते हैं। यह उन्मुखता विचार से कहीं गूढ़ है। हम 'मन' की बात करें तो इस उन्मुखता की ही बात उपयुक्त है। ऐसे मन को इन्द्रियों में गिनना इसलिये उचित दिखता है क्योंकि इसके बिना इन्द्रियों का कोई अर्थ नहीं। अपने आप में इन्द्रियां परस्पर–अंध, परस्पर–असमजंस हैं। वे मन की करण ही हो सकती हैं। 'मन' कहलाती

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

चेतना की व्यक्ति–अतिक्रांत उन्मुखता में मैं जिस बाह्य–जगत् की उपलब्धि करता हूं वह नितांत बाह्य ही नहीं, अन्यमय होता है। और यह अन्य विषय ही नहीं विषयी होता है, और इसी रूप में मन को उपलब्ध होता है। हम पाते हैं कि हम अन्य विषययियों के साथ इस 'एक' जगत् में रहते हैं, और यह जगत् मुझे ही नहीं, या केवल 'हमें' (मनुष्य मात्र) को ही नहीं, जीव मात्र को, और यों प्राणी मात्र को, एक स्वतंत्र स्व–योजना–प्रतिष्ठ सत्ता के रूप में उपलब्ध होता है। विषयी मात्र के लिये इस रूप में उपलब्ध होना ही इसकी स्वतंत्रता का लक्षण और प्रमाण है। इसकी उपलब्धि मेरी ही हो तो यह मेरा स्वप्न भी हो सकता है।

हमने ऊपर उस तार्किक परीक्षक की बात की जो अन्य को असिद्ध मानता है। पर फिर यहां चक्रक भी देखिये कि जिस परीक्षक की हमने बात की उसकी परीक्षा भी अन्य की अपेक्षा रखती है! अन्य के बिना परीक्षा का अर्थ ही क्या! परीक्षक अपनी परीक्षा को प्रमाण मानता है। प्रमाण मुझ–सीमित नहीं होता, मेरे 'स्व' तक, मेरे व्यक्ति–बोध तक घिरा नहीं रहता, अन्य–मनुष्य–साधारण होता है। तभी परीक्षा का आधार हो सकता है। किसी बोध को या दृष्टि को या विचार को कोई व्यक्ति स्वगत, स्वसीमित, स्वविशिष्ट समझे तो वह उसे प्रमाण मानने से कतरायेगा; संदेह करेगा, मोह या कोरी कल्पना या भ्रम भी समझ सकता है। जो बोध स्वसीमित है, उसे मैं स्वप्न की तरह अप्रमा मानने की ओर ही झुकूंगा। स्वप्न में मैं इन्द्रिय के माध्यम से प्रदत्त एक बड़े साक्षात्, स्व–योजना–प्रतिष्ठ जगत् का बोध करता हूं, पर उसे मैं प्रमा–बोध इसीलिये नहीं समझता क्योंकि स्वप्न नितांत मेरा होता है। इसके विपरीत, बाह्य जगत् मैं समझता–कहता ही उसे हूं जिसे मैं अन्यों के साथ, अन्यों की सम्मति को ऊह्य रखते हुए, बाह्य–स्थित पाता हूं या यों कहें कि जिसके होने का लक्षण ही अन्य–साधारण होना है (मनुष्य के लिये ही नहीं, जीव मात्र के लिये)। स्वप्न को हम इस रूप में नहीं पाते। यह जगत् स्वप्न भी है तो समष्टि–चेतना का सामान्य चेतना का स्वप्न है, और फिर इसे स्वप्न कहने का अर्थ ही और हो जाता है!

अन्य का बाह्य–प्रत्यक्ष हम जगत् की दूसरी वस्तुओं की तरह ही इन्द्रिय के माध्यम से करते हैं। इन्द्रिय–संकेत अन्य को एक पिंड–रूपेण प्रस्तुत करता है, जैसे किसी पत्थर की चट्टान को भी करता है। पर इन्द्रिय–संकेत अपने आप में बहुपक्षीय, बहु–आयामी, बहुस्तरीय होता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अन्य का इन्द्रिय–गृहीत 'पिंड' हमारे सामने देह–रूपेण आता है, चट्टान की तरह पिंड–मात्र रूपेण नहीं। साफ़ ही, देह का बोध ऐसा विशिष्ट बोध होता है जो देह में देही के बोध के बिना नहीं हो सकता (मूर्ति–जैसी नकल में देही का धोखा यही दिखाता है)। अन्य में देही का बोध प्रकट ही अन्य के अंतः का बोध है। यह बोध भी इन्द्रिय–संकेतित प्रत्यक्ष या साक्षात् ही होता है। किसी पिंड में देही का प्रत्यक्ष बोध पिंड को अ–देही व्यावृत्त करता हुआ पिंड को अंतः–शील अन्य के रूप में साक्षात् उभारता है, वैसे ही जैसे चट्टान को देह–व्यावृत्त करता हुआ उसे अंतः–विहीन जड़ के रूप में उभारता है। देह के विषय में यह बोध हममें स्वतः जागता है, बोध के स्वभाव में, उसकी उन्मुखता में ही यह उपलब्धि जागती है कि 'यह देह–पिंड है, जो मेरी तरह ही सशरीर विषयी का 'धारण' करता है, यह निरा जड़ पिंड, निरा बाह्य विषयमात्र नहीं है'। हां, यह बोध भ्रांत हो सकता है, जैसे किसी पुतले को हम 'अन्य विषयी' के रूप में जान बैठें। पर भ्रांति मिटने पर भ्रांत पुतला पुतला ठहर जाता है। पर ऐसी भ्रांति देह–देही संबंध को भ्रांत नहीं ठहराती, उलटे इससे देह–देही सम्बन्ध का हमारे बोध में निहित, आधारगत होना ही द्योतित होता है। 'अन्य में देहित्व है', इस सहज बोध को समझने के लिये देह से देही के अनुमान की बात की जाती है। पर यहां यह देखिये कि अन्य में अंतः का होना बोध में ऊह्य न हो तो अंतः के अनुमान की बात ही नहीं उठेगी। अनुमान के प्रत्यक्ष–फलित होने या हो पाने की संभावना अगर किसी भी अर्थ में अनुमान के प्रमा होने का अंग हो तो, प्रकट ही, उक्त अनुमान प्रमा नहीं हो सकता : वह स्वरूपेण ही प्रत्यक्ष–फ़लित नहीं होता। प्रत्यक्ष इन्द्रियों से होता है, हमें अंतः का इन्द्रिय–बोध नहीं होता, अपने अंतः का भी इन्द्रिय–बोध तो नहीं होता! मैं समझता हूं कि यहां यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि अन्य का अंतः इन्द्रिय द्वारा अनुमित नहीं, संकेतित होता है, वैसे ही जैसे चट्टान का जड़ होना।

इन्द्रिय–संकेत के और भी आयाम हैं। इन्द्रियगम्य कलाकृति का उदाहरण लीजिये ('इन्द्रिय–गम्य' विशेषण का प्रयोग यहां भाषा–भिन्न प्रत्यक्ष इन्द्रियगम्य कलाकृतियों के लिये कर रहा हूं, जैसे चित्र, संगीत, भास्कय, वास्तु, नृत्त; भाषा–रचित कविता जैसी कलाकृति को इनकी तरह प्रत्यक्ष इन्द्रिय–गम्य नहीं कहा जा सकता : भाषा अर्थ के बिना नहीं होती और अर्थ इन्द्रिय–गम्य नहीं होता, क्योंकि अर्थ का संकेत–ज्ञान भाषा–समुदाय–गृहीत

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अनिन्द्रिय अर्थ–बोध की पूर्वापेक्षा रखता है)। हमने अभी पुतले की बात की। पुत्ला अगर कलाकृति हो और हममें संवेदना जगाये तो पुतला भी केवल देह–सदृश जड़–पिंड नहीं होगा, पुतले की आकृति में भी एक ऐसा संकेत होगा जो 'पिंड' को एक 'भीतर' का आयाम देता, अंतः–शील बनाता अनुभूत होगा। हालांकि कलाकृति के इस 'अंतःशील' आयाम को 'देही' नहीं कह सकते, पर यह चट्टान की तरह निरा 'बाह्य' नहीं होता, यह बोध की ऐसी उन्मुखता – या वृत्ति या प्रवणता – को ऊह्य रखता है जिसे हम संवेदना या सहृदयता जैसा नाम देते हैं। यह उन्मुखता भी 'मेरी' नहीं 'हमारी' होती है, मनुष्य–मात्र–साधारण होती है।

इन्द्रिय–संकेत में आयाम–भेद की बहु–पक्षीयता में उतरने के लिये यहां देह और कलाकृति में एक तात्त्विक कोटि–भेद देखना काम का हो सकता है। कलाकृति कल्पना–प्रसूत होती है। देह की तरह प्रदत्त नहीं होती। पर कल्पना–प्रसूत होने के कारण कलाकृति पिंड–मात्र भी नहीं होती। कलाकृतियों में हमारा अंतः रूप लेता है। पर कल्पना–प्रसूत कृति की कोटि कलाकृति तक सीमित नहीं, स्पष्ट ही व्यापक है। कलाकृति ही नहीं हमारी कृति मात्र हमारे अंतः का बाह्य–रूप होती है, हमारी कल्पना के बिना अकल्प्य है। हम रहते–जीते ही अपनी कृतियों में हैं। घर–नगर ही नहीं, बरतन–भांडे, यंत्र, बैंक–बाज़ार, स्कूल–कॉलेज सब कृतियां हैं। इनके बिना हम अपनी रहनी की कल्पना नहीं कर सकते। कहना न होगा कि ऐसी कृतियां हमारे व्यवहार में उपादेय होती हैं। पर साथ ही ये हमारे व्यवहार को और तत्–संश्लिष्ट, तत्–अविनाभूत हमारे व्यवहारी अंतः को रूप भी देती हैं। हम उन्हें बनाते ही नहीं, उनमें अपने आप को देखते और पाते हैं। हमारा व्यवहार एक व्यापक संस्कृति को रचता हुआ उसके भीतर रचित होता है। हम स्वरूप से संस्कृति–प्रतिष्ठ होते हैं, उसे बनाते हुए, उससे बनते हुए ही हम अंतः–शील होते हैं। संस्कृति हमसे प्रकाशित होते हुए हमें प्रकाशित करती है। संस्कृति हमारे उस अंतः का प्रकाश है, और उसे प्रकाशित करती है, जिसे मानव–सामान्य का व्यक्ति–ऊर्ध्व अंतः कहा जा सकता है। यह मानव के अंतः को शेष प्रकृति से सर्वथा भिन्न कोटि में रख देता है।

हममें अपनी कृति की पहचान, उसका इन्द्रिय–प्रत्यक्ष, सहज ही जड़ और देह (अन्य) से भिन्न होता है। कृति को हम स्वतः, अपने देखने में ही, इनसे व्यावृत्त कर लेते हैं। पर कृतियों में भी हम कृतिमात्र और कलाकृति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

में एक तात्त्विक भेद करते हैं। कृति हमारे लिये उपादेय होती है, पर कलाकृति उपादेय मात्र नहीं होती। ऐसी हो तो हमारे लिये कला–कृति नहीं होगी। और फिर बाह्य–सी, अंतःशून्य–सी भी होगी। कलाकृति में हम अंतः की विशेषता पाते हैं। हां, कलाकृति भी अन्य कृतियों की तरह हमारी रहनी–करनी का, हमारे व्यवहार का, हमारी संस्कृति का ही एक आयाम है। पर उसे एक ऊर्ध्वतर पुरुषार्थ का आयाम कह सकते हैं। कलाकृति का 'पिंड' उपादेयता मात्र से ऊपर उठ कर एक स्वायत्त अंतःसत्ता की ओर संकेत करता दिखता है, जिसका सादृश्य हम देह–पिंड के व्यक्ति–देही की ओर संकेत करने में पाते हैं। तभी कलाकृति के अपनेपन या वैशिष्ट्य की बात करते हुए 'कलाकृति का विशिष्ट व्यक्तित्व' जैसे प्रयोग को हम सार्थक समझते हैं। यों कृति के, विशेषकर कलाकृति के, अंतः की बात सतात्पर्य उभरती है।

पर, चलिये, कृति को और कलाकृति को भी – हम फिर भी चट्टान की तरह बाह्य जगत् में ही रख दें, उसे अंतःशून्य पिंड मात्र ही मान लें (जैसा कि संवेदना के अभाव में हम करते भी हैं; और 'घट' का प्रसिद्ध, दार्शनिकों के लिये 'मूर्धन्य', उदाहरण भी यह दिखाता है कि उसे भी हम कल्पना–प्रदत्त नहीं, चट्टान–सदृश ही जड़–प्रदत्त मानते–समझते हैं), पर अन्य देह–संकेतित देही को हम अंतःशून्य मान कर बाह्य जगत् में नहीं रख सकते। देही को 'बाहर' कहना ही असमंजस कोटि–व्यामोह होगा। हां, देह रूप में हम अन्य को बाहर ही पाते हैं, पर हमारे लिये वह देही ही होता है, हम उसके देहित्व को उसकी देह तक प्रसृत पाते हैं, तभी वह उसकी देह होती है। और तभी वह हमारे लिये 'अन्य' होता है। किसी कृति को कितने ही घनिष्ठ भाव से अंतःशील क्यों न पायें, उसे 'देही' नहीं कह सकते, और यों 'अन्य' की कोटि में नहीं रख सकते। हमारे लिये 'अन्य' की कोटि अंतः को ही ऊह्य नहीं रखती, वह विषयी की कोटि होती है। विषयी हम से स्वतंत्र अपने आप में चेतन होता है, कलाकृति का अंतः चेतन विषयी नहीं होता, न हमसे निरपेक्ष होता है। कृति विषयी–कृत होती है विषयी सत्ता को ऊह्य रखती है, विषयी नहीं होती। तभी देही भी नहीं होती। कलाकृति के देह या 'शरीर' की बात लक्षणा में ही हो सकती है, हालांकि ऐसी लक्षणा अर्थवत् होती इसलिये है कि अंतः की बात वहां सार्थक है : कलाकृति में चट्टान की तरह विशुद्ध बाह्यता नहीं होती। हां, यह कहा जा सकता है कि हम कृति की तरह अन्य विषयी को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कृत तो नहीं कह सकते, पर फिर भी मनुष्य–विषयी को 'स्वकृत' कहा जा सकता है, जैसा कि हमने ऊपर (संस्कृति की बात करते हुए) इंगित भी किया है पर इस बात की चर्चा यहां अवांतर होगी।

अब तक की चर्चा में यह उभर आया होगा कि हमारी चेतना अपनी उन्मुखता में बाह्य–जगत् की तरह ही अंतःजगत् का होना ऊह्य रखती है, और इस जगत् को जीव–साधारण मानती है, चाहे जीव मात्र में अंतःजगत् को एक–सा न पाती हो।

सच यह है कि जड़–चेतन का कोटि–भेद हमारी इन्द्रिय–संकेत की ग्राहकता में ही निहित रहता है। तभी हम मनुष्य के ही नहीं, जीव मात्र के पिंड को देह समझते हैं, पर अजीव पिंड को ऐसा नहीं समझते। हम जीव मात्र को ही केवल विषय–रूप नहीं पाते, उसमें न्यूनाधिक विषयिता का बोध करते हैं। 'न्यूनाधिक' इसलिये कह रहा हूं कि पेड़ में और पेड़ पर बैठी चिड़िया में हम इसी न्यूनाधिक्य के आधार पर सहज भेद भी करते हैं। यह उदाहरण मैंने यहां जानबूझ कर लिया है। क्योंकि पेड़ की कोटि के विषय में यहां यह कोटिगत संदेहं हो सकता है कि उसे जड़ की कोटि में रखें या चेतन की कोटि में। पेड़ को हम जीव की कोटि में रखने से इनकार भी कर सकते हैं ऐसा होता ही आया है। या इस पर बुद्धि दोलायमान हो सकती है। और वह इसलिये कि पेड़ में हम प्राण मान भी लें तो भी पेड़ को विषयी कहने में घोर संकोच होगा; और क्या फिर उसके पिंड को हम 'देह' कहना चाहेंगे? पर बात यहां इस विवाद में पड़ने की नहीं कि पेड़ को हम किस कोटि में रखें। पते की बात यह है कि ऐसा प्रश्न खड़ा भी होता है। तभी पेड़ को चट्टान की तरह नितांत जड़ कहते हुए भी हमें संकोच होता है। और यह बात (अर्थात्, पेड़ का चिड़िया से 'नीचे' और चट्टान से 'ऊपर' होना) चेतना की उपस्थिति के न्यूनाधिक्य की ओर ही नहीं, उस उपस्थिति की उच्चावचता की ओर भी इंगित करती है।

जड़–चेतन जैसे भेद, या भिन्न तात्त्विक कोटियां कहिये, इन्द्रिय–संकेतित होती हुई मनुष्य, पेड़, चट्टान के रूप में अध्यवसित होती हैं। ये नाम–रूप तो होती हैं पर विकल्प मात्र या उद्ग्रहण मात्र नहीं होतीं। इनका ग्रहण हमारी विकल्प–करती चेतना से कहीं गहरे स्तर पर होता है। हमारी ज्ञान–चेतना, या कहिये कि हमारी ग्राहकता के स्वभाव में ही ये कोटियां निहित रहती हैं, मानो हमारी चेतना अपनी उन्मुखता के भीतर ही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इन्हें सँजोये रखती है। या इन्हें हमारी चेतना की 'अतिक्रामी' कोटियां कह सकते हैं। जड़–चेतन की कोटि हमारे बोध में ऐसे अगाध भाव से निष्ठ है कि यह जगदुन्मुख चेतना–सामान्य की ही विषयिता के अंग के रूप में उभरती है : जीव व्यवहार (उच्चतर जीवों का व्यवहार तो स्प्ट ही) जीव और चेतन में भेद करता दिखता है, चाहे हमारी तरह से इन्हें विकल्प की और आत्मचेतन विमर्श की कोटियां न बनाता हो। हम यह मान भी लें कि ऐसी कोटियों के बीच कोई लक्ष्मण–रेखा नहीं बनती दिखती (जैसा कि हमने पेड़ के विषय में देखा), एक धुँधली, फिसलती, बोध–को–ललकारती सीमा ही उभरती जान पड़ती है, पर इनकार नहीं सकते कि ये कोटियां हमारी जगदुन्मुखता में प्रतिष्ठ हैं। हां, हम भेद पर गहरे प्रश्न उठाते हैं, पर यह व्यापार उपलब्ध द्वंद्व को ऊह्य रखते हुए ही व्यापृत होता है।

सामने पड़े पत्थर को लीजिये। उसे पत्थर–रूप में ग्रहण करने के लिये इन्द्रिय आवश्यक प्रमाण होती है, पर कैसा प्रमाण? मैं उसे पत्थर ही नहीं समझता उसे जड़ भी समझता हूं। पत्थर का जड़ होना मेरे लिये पत्थर का स्वरूप है उसके होने से अभिन्न है; पत्थर जड़ न हो तो मेरे लिये पत्थर भी नहीं होगा। पर पत्थर का इन्द्रिय–बोध उसकी जड़ता को 'दिखाता' नहीं है, उसकी ओर वैसा ही संकेत करता है, जैसा अन्य की स्वप्रवृत्त देह उसके अंतः की ओर संकेत करती है। मुझे किसी प्रत्यक्ष 'वस्तु' का ज्ञान उसके ऐसे संबंध ज्ञान के साथ होता है जिसका इन्द्रिय–प्रत्यक्ष नहीं होता, जो ज्ञान स्वरूपेण परोक्ष रहता है। जड़त्व ऐसा ही एक आधारगत संबंध है। हमें वस्तु का ज्ञान जगत्–गत वस्तु के रूप में होता है, और कहना न होगा कि जगत् हमारे लिये एक जटिल संबंध–तंत्र की योजना से बनता है। इस तंत्र में जगत् का जड़–वस्तु–गत आयाम चेतन–वस्तु–गत–आयाम से अनायास ही भिन्न उपलक्षित होता है। पर दोनों परस्पर तत्त्वतः भिन्न होते हुए भी एक ही जगत् के अभिन्न अंग के रूप में भी सहज भासित होते हैं; अचंभा नहीं कि जड़–चेतन का परस्पर संबंध क्या है? यह प्रश्न हमारी प्रश्न–चेतना के मूलगत प्रश्नों में बना रहता है। पर यह प्रश्न जड़–चेतन के भेद को ऊह्य मान कर ही बनता है। इन्द्रिय द्वारा यह भेद–ज्ञान संकेतित या द्योतित ही होता है, इसका इन्द्रिय–प्रत्यक्ष नहीं होता। हमारा जगत्–बोध जगत् के एकत्व के साथ जगत्–गत वस्तुओं के नानात्व का युगपद्, अविनाभूत बोध करता है। जगत् और जगत्–गत वस्तुएं हमारे लिये संकेतित या द्योतित होती हैं, साक्षात्

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इन्द्रिय–ग्राह्य नहीं ('जगत्' के इन्द्रिय–ग्राह्य होने का तो कोई अर्थ ही नहीं बनता!)। तभी हम पाते हैं कि वस्तु के स्वरूप पर विचार अपने प्रथम चरण में ही इन्द्रिय के साक्ष्य को संशय से देखता है, उसे नकार भी देता है, जैसे विज्ञान में, जो वस्तु–जगत् को इन्द्रिय–प्रदत्त मानता हुआ भी उसके वास्तव यथातथ (जड़) स्वरूप का संधानी ही रहता है। वस्तु को इन्द्रिय जिस रूप में प्रस्तुत करती है, विज्ञान उसे वास्तव नहीं समझता; वास्तव जगत् क्या है, यह उसके लिये गणित–गर्भ विचार की ही बात होती है। साफ़ ही, उसके लिये वस्तु इन्द्रिय–प्रदत्त नहीं, इन्द्रिय–संकेतित होती है। इन्द्रिय–प्रदत्त वस्तु के स्वरूप में उतरने लिये इन्द्रिय के प्रदत्त साक्ष्य (रस, वर्ण, गंध) का तो वह प्रकट निराकरण ही करता है। वस्तु को वह संबंध–तंत्र के रूप में देखता है जो उसके लिये जगत् का स्वरूप है, और यह तंत्र इन्द्रिय–गम्य नहीं, विचार–गम्य होता है। वस्तु–विषयक ऐसे संबंध–तंत्र चेतना की बड़ी गहरी उन्मुखता और ग्राहकता में जड़ करते हैं। पर यहां संस्कृति–भेद के साथ हम गहन दृष्टि–भेद भी उभरता पाते हैं। दृष्टि–भेद का यह व्यापार बड़ा गहरा ही नहीं, बड़ा विचित्र होता है। जड़ और चेतन की कोटियां तो बोध में बनी रहती हैं, पर इनका भेद एक विस्मयजनक भाव से मिटता भी दिखता है। इन्द्रिय का संकेत–ग्रहण–करती चेतना की उन्मुखता का स्वभाव ही विलक्षण, अनपहचाना सा उभरता है : चट्टानों में खड़ा पहाड़ जड़ नहीं, देवतात्म हो जा सकता है, नदी देवी हो जाती है और ऐसा देवमय बोध एक पूरे दर्शक समाज को होता है। वैदिक दृष्टि में दृश्यमात्र ही देवमय, चिन्मय था। इसे भ्रांति या मोह कह देने का कोई अर्थ नहीं बनता; हम अभ्रांत ही हैं, मोह से ऊपर हैं, यह हम कहां जानते हैं! पर ऐसी चिन्मयी दृष्टि के लिये भी जड़–चेतन का कोटि–द्वंद्व उजागर रहता है।

जड़ और चेतन का भेद करती हमारी चेतना चेतन वस्तुओं में (जीवों में) चेतना का न्यूनाधिक्य देखती हुई तारतम्य–भेद भी करती है, उच्चावचता उपलब्ध करती है। मनुष्य की चेतना तो सहज ही ऐसा करती है। हम जड़ और जड़ के बीच तारतम्य नहीं करते : 'कम जड़ अधिक जड़', इसका अर्थ नहीं बनता। पर चेतन में (जहां प्राण का होना ऊह्य रहता है) हम सहज ही उच्चनीच के तारतम्य का सोपान उभरता देखते हैं। सोपान के शिखर पर हम अपने आप को – मनुष्य को – रखते हैं। बल्कि हम मनुष्य को जीव–मात्र की श्रेणी से ही अलग, ऊपर रखते हैं। मनुष्य पशु से अपने को सहज ही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अलग ही नहीं, ऊर्ध्व पाता है। यह प्रश्न उठता रहा है कि वह क्या लक्षण है जो मनुष्य को विलक्षण विशेषता देता है? कई लक्षण उभरे ही हैं, पर इस बहस में यहां जाने की ज़रूरत नहीं। मैं समझता हूं कि श्रेयबुद्धि या धर्मबोध (औचित्यबोध, नैतिक चेतना) मनुष्य की विशेषता है, जैसा कि मनु ने कहा है। तभी मनुष्य ऐसा जीव है जो अपने को सिद्ध नहीं साध्य पाता है। श्रेय–बोध या धर्मबोध उसकी साध्यता का लक्षण है। उसका कम ही नहीं, भाव, ज्ञान, सब साध्यता में बसे हैं। जड़ से चेतन और फिर चेतना में उभरती उच्चावचता को देखें तो जगत् ही सृष्टि ही सिद्ध नहीं, साध्य के रूप में उभरती दिखती है।

पर जो भी हो, अब तक जो कहा उससे मैं समझता हूं यह उभर आया होगा कि हमारे बोध की उन्मुखता में एक स्व–स्थित, स्व–योजना–निष्ठ बाह्य जगत् ही नहीं जागता, एक अंतःजगत् भी उसी विश्रब्धता के साथ जागता है। बल्कि कह सकते हैं कि एक सामान्य स्व–योजना–निष्ठ अंतःजगत् के बिना किसी सामान्य बाह्य–जगत् की भी बात नहीं हो सकती। इस अंतःजगत् के बारे में भी बोध यह रहता है कि यह अपने आप में है, इसका अपना स्वरूप है; और इसकी सत्ता साधारण है, मुझ तक सीमित नहीं। सच यह है कि मैं अपने अंतः को 'अपना अंतः' ही नहीं पाता, एक ऐसे चेतन अंतः–जगत् के रूप में पाता हूं जिसमें न्यूनाधिक्य, उच्चावचता के होते हुए भी एक गहरी जीवमात्र में घर करती सामान्यता है : वही चेतना जीवों में न्यूनाधिक, उच्चावच और फिर मनुष्य में उत्क्रांत होती हुई रूप लेती दिखती है। पर चलिये अन्य जीवों में हम चेतना को न्यून और निम्न ही नहीं किसी अर्थ में जड़–तुल्य ही पायें और उन्हें विषयी की कोटि में न रखना चाहें जैसा कि कुछ विचार–दृष्टियों में दिखता ही है, तो भी मनुष्य को हम विषय ही नहीं, विषयी समझते और पाते – हैं, और मनुष्य मात्र में एक अन्य–साधारण अंतः–जगत् की बात उसी भरोसे से करते हैं जिस भरोसे से एक अन्य–साधारण बाह्य–जगत् की बात करते हैं।

हां, मैं बाह्य जगत् को जिस रूप में अन्य–सामान्य पाता हूं अन्य को जो न उपलब्ध हो उस वस्तु के जगत्–गत होने पर संदेह करता हूं, वैसा मैं अंतः के साथ नहीं कर सकता। पर मुझमें अंतः की सामान्यता का अटल बोध रहता है, अन्य का अंतः मेरे अंतः का सधर्मी है, यह गभीरतम आश्वासन रहता है, पर यह सामान्यता इन्द्रिय–गम्य जगत् की सामान्यता जैसी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अन्य–गम्य नहीं होती। हां, हम अंतः की सत्ता की, उसके होने की, बात करते हैं तो अंतः–सामान्य की ही बात करते हैं, उसका सामान्य स्वरूप–स्वभाव हमारे ध्यान में रहता है, पर सीधा अपरोक्षगम्य बोध तो मुझे अपने अंतः का ही होता है। मुझमें अभी क्या है, क्या क्या है, यह तो मैं ही देख सकता हूं।(हम यही देखने की ओर यहां आगे बढ़ेंगे। पर हम देखेंगे कि हम अपनी ओर देखने लगें तो अद्भुत असंमजस खड़ा होता है। दृश्य अदृश्य होता दिखता है, द्रष्टा स्वदृष्ट द्रष्टा ही बोध पर व्याप्त होता दिखता है। पर इसकी बात आगे)।

जो भी हो, मेरे अंतः का बोध मेरे लिये सीधा अपरोक्ष्यगम्य ही नहीं होता, उसे बाह्य–बोध से कहीं दृढ–प्रतिष्ठ भी कहा जा सकता है। मैं बाह्य पर जैसा सहज संशय कर सकता हूं, अंतः पर नहीं कर सकता। बल्कि, इस संदर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि बाह्य की बाह्यता है ही इस बात में कि उस पर मैं संशय कर सकता हूं। निःसंशय ज्ञान तो मुझे अपने बोध का ही होता है, चाहे वह इन्द्रिय–प्रदत्त बाह्य का बोध हो या अंतः की किसी और अनुभूति का हो। यहां मैं 'मैं' सर्वनाम का प्रयोग कर रहा हूं, पर उसे सर्व–नाम ही समझना चाहिये। क्योंकि मैं यह भी जानता हूं कि आप भी मेरी तरह ही अपने अंतःबोध पर संशय नहीं कर सकते; और वह (बाह्य–विषयक) संशय जो मेरे अंतःबोध में जागता है, मैं जानता हूं कि वह आपका भी हो सकता है; ऐसे किसी भी संशय को मैं अन्य–साधारण मान कर ही 'मेरा' संशय मानता हूं। संशय का संदर्भ विचार और प्रमाण का संदर्भ होता है, जो कि उसके अन्य–साधारण हुए बिना बनता ही नहीं। संशय–बुद्धि मेरी नहीं, सामान्य ज्ञान–चेतना की होती है, नहीं तो वह मेरे लिये मोह या भ्रम ही होगी।

फिर भी यह सच है कि मेरे संशय का अनुभव मुझे ही होता है। अन्य को नहीं। मेरा अनुभव, या अंतः–संवेद, मेरा अनन्य होता है। अंतः के अनुभव या संवेद की सामान्यता बाह्य–जगत् की सामने रखी वस्तु (टेबल़) जैसी सामान्यता नहीं होती। टेबल दूसरे को नहीं दिखे तो मुझे उसके होने पर संशय होगा, पर मेरा संशय़ मुझे ही 'दिखता' (अनुभूत, संविदित होता) है। मैं जानता हूं कि सुख, दुख, विचार.. सबमें होते हैं, पर इनका अनुभव अनन्य होता है, नितांत मेरा होता है, चाहे अन्य से अनन्य सहानुभूति भी संभव हो। हम अंतः को अन्य–सामान्य जानते–मानते हुए भी अपने स्वकीय अंतः में ही स्थित रहते हुए ऐसा जानते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पर अंतः का कितना ही सीधा–साक्षात्, स्वगत बोध मुझे होता हो, अंतः रहता एक पहेली ही है। बाह्य से कहीं गहरी, कहीं तीखी पहेली होता है। एक बहुत साधारण सा प्रश्न हम अपने आप से पूछें : अंतः में क्या है, क्या क्या है, तो हम पहेली की ओर बढ़ निकलते हैं।

पर हां, बाह्य तरह ही वहां भी हम एक नानात्व को सहज आभासित पाते हैं। इस नानात्व के आयाम भी नाना हैं : स्पर्श, गंध, स्वाद, घ्राण, श्रुति, इन्द्रिय–से–प्राप्त–होते बोध तो हैं ही, इच्छा, राग–द्वेष, सुख–दुख, आवेग, भाव, संवेदना, संकल्प, आस्था, बुद्धि, युक्ति–विचार, कल्पना, अध्यात्म के अनुभव। और यों अंतः का विस्तार ही नहीं, उसकी भूमियां, उसके सोपान भी नाना हैं। हम इन्हीं में रहते हैं। ये ही होते हैं इनसे तदात्म होते हैं। अचंभा नहीं कि अंतः को विराट्, बहु–भूमि–मय, परम भूमामय आँका गया है।

पर अंतः को देखने की पहेली पर आता हूं। इसके लिये हम अंतः को देखने का एक सीधा सा प्रयोग यहां करें। एक सीधी, मामूली सी खोज। एक छोटी सी, सतही सी टोह या टटोल कहिये। बड़ा साधारण सा आग्रह सामने रख रहा हूं यहां। मैं यहां वैसी ही मामूली टोह की बात कर रहा हूं जैसी कि हम बाहर करते ही रहते हैं : सामने देखते हुए क्या है इसकी टोह लेते रहते हैं। मैं बाहर देखता हूं तो दिखता है कि सामने टेबल है, उस पर कम्प्यूटर रखा है, जिस पर मेरी उँगलियां चल रही हैं; टेबल पर किताब रखी है, उस पर मेरा चश्मा। मैं अपने देखने–जानने के इस बोध के वलय को और बढ़ा कर पूरे कमरे को इसी तरह देख–जान सकता हूं, ऐसा करता भी हूं। टोह में एक जांच, एक परीक्षा, की जिज्ञासा भी ले आता हूं। सामने अलमारी के बीचवाले खन में किताब है। उसका नाम साफ़ नहीं दिख रहा। पास जाकर देखता हूं। हां, अब अगर मैं यह पूछूं कि किताब में क्या है, किताब कह क्या रही है? तो बात हमारी इस सतही सी खोज से तुरत हट जायेगी, टोह का रूप बदल जायेगा; प्रश्न का तात्पर्य और हो जायेगा, और बात अंतः की ओर मुड़ कर ऐसी जगह जायेगी जहां क्या है की पहचान गुत्थिल हो जायेगी। बात, साफ़ ही, साधारण प्रत्यक्ष के नाम–रूप अध्यवसाय से हट कर विचार की ओर निकल जायेगी। यह तब भी हो सकता है अगर मैं किताब या टेबल के किसी प्रकार के वर्गीकरण की बात करने लगूं : किताब किस विषय की है?, टेबल को टेबलों के किस प्रकार में रखेंगे? ऐसे प्रश्नों के साथ बात साधारण नाम–रूप के अध्यवसाय से हट कर विचार की दिशा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ले ले लेगी। पर यहां मैं बात को ऐसा कोई टेढ़ा मोड़ देने की बात नहीं कर रहा। अलमारी पर किताब देखना, उसे तत्–रूप में पहचानना, बाहर देखने–जानने का जो सीधा–सहज सा अध्यवसाय होता है, उसी की बात कर रहा हूं।

पर ऐसी ही (सतही–सी) खोज के आशय से अंतः पर आइये। वहां ऊपर जैसी क्या है, क्या क्या है, की मामूली सी टोह एक पहेली बन जाती है। और यह तब जब कि अंतः का हमारा बोध ही बड़ा साक्षात्, बिना किसी माध्यम की आड़ के स्वतःस्पष्ट होता है। बाहर ऐसी टोह के लिये इन्द्रिय रूप माध्यम की आवश्यकता प्रकट उभरती है। पर अंतः में इन्द्रिय जैसे माध्यम या करण की बात अटपटी ही नहीं, असमंजस दिखती है। स्पष्ट ही, मुझे अपने अंतः के बोध के लिये इन्द्रिय जैसे किसी माध्यम की आवश्यकता विदित नहीं होती। इन्द्रिय जैसे किसी करण का वहां कोई अनुभव ही नहीं होता हमें। यह ठीक है कि क्या है का प्रश्न आम तौर पर बाहर क्या है की पहचान के लिये ही उठता है; और यह पहचान इन्द्रिय की अपेक्षा रखती है, इन्द्रिय के बिना हम इसकी कल्पना नहीं कर सकते, चाहे इन्द्रिय की भूमिका को हम जैसे भी समझें–आँकें, और इस काम के लिये अंतः को कितना ही अनिवार्य मानें। पर क्या है, इस साधारण–से बाह्यमुखी प्रश्न का मुँह हम अंतः की ओर मोड़ते हैं तो इन्द्रिय जैसे किसी माध्यम को खोजे भी नहीं पाते। अंतः में मेरी सीधी, अव्यहित पहुँच होती है, बिना किसी माध्यम के।

पर यहां माध्यम के पक्ष में कहा जा सकता है कि अंतः का क्या है भी बाह्य की तरह विषय ही होता है, तो वहां भी बाह्य की तरह इन्द्रिय जैसे माध्यम की उपस्थिति को मानना युक्त है। इससे भी आगे बढ़ कर कहा जा सकता है कि विषय–बोध मात्र के लिये किसी करण का होना आवश्यक है। अंतः–बोध अंतः–साक्ष्य के लिये करण की बात की ही जाती रही है। अंतः में भी इन्द्रिय जैसा करण–स्थानीय कुछ प्रतिपादित किया जाता रहा है। युक्ति हो ही सकती है कि जब अंतः को हम 'देखते' हैं तो वह बाह्य विषयों की तरह ही गोचर होता है, इसलिये इन्द्रिय जैसे कुछ का वहां भी होना युक्त है।

पर ऐसा कुछ प्राप्त नहीं होता। अंतःबोध की अव्यवहितता से हम कतरा नहीं सकते। कतराना चाहें तो अंतः को बाह्यवत् मानना होगा, जो न

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अनुभूत है, न युक्त। अंतः बाह्यवत् हो तो अंतः–बाह्य का भेद ही अग्राह्य होगा। सच यह है कि बाह्येन्द्रिय जैसी किसी इन्द्रिय की हमें अंतः में कोई प्राप्ति नहीं होती अंतःबोध का ऐसा कोई माध्यम या करण नहीं उभरता जिसे बाह्येन्द्रियवत् स्वतंत्र, अपना–गुण–स्वभाव–रखता करण कहा जा सके। फिर यह भी सोचिये। बाह्य–इन्द्रियां अनेक होती हैं। हममें तो बाह्येन्द्रियां पाँच होती हैं; उनके और भी अधिक होने की कल्पना की जा सकती है। कह सकते हैं कि इन्द्रिय–अनैक्य अनावश्यक है, क्योंकि विषय–वस्तु के ऐक्य–बोध का इन्द्रिय की गिनती से संबंध नहीं होता, यों भी वस्तु–बोध के लिये चक्षु और स्पर्श का ही हम प्रयोग करते हैं; और वास्तव में इन्द्रिय एक भी हो तो भी वस्तु–बोध वही होगा, क्योंकि वस्तु उस बोध से स्वतंत्र होती है : एक इन्द्रिय का संकेत भी उसे जता दे सकता है। पर अंतः में इन्द्रिय–अनैक्य की बात करें तो बात ही बेढब, विषम होगी। बाह्य इन्द्रियां अनेक होती हुईं करण के रूप में स्वतंत्र भी होती हैं। यह स्वतंत्रता इस बात में प्रकट होती है कि हर इन्द्रिय का अन्य इन्द्रियों से भिन्न अपना गुण–धर्म, अपना स्वरूप–स्वभाव होता है। हर इन्द्रिय का अलग 'देखना' या बोध होता है। हर इन्द्रिय में एक अलग अन्य–इन्द्रिय–भिन्न 'द्रष्टा–भाव' या यह कहना अधिक उपयुक्त कि 'ग्राहकता' – होती है। भिन्न इन्द्रियां एक वस्तु नहीं देखतीं वे अपने आप में वस्तु–दर्शन जैसा कुछ करती ही नहीं। मन इन्द्रियों के भिन्न संकेतों का अर्थ करता हुआ वस्तु को एक ठहराता है (और मन को लक्षणा में ही इन्द्रिय कह सकते हैं)। अब, अंतः में इन्द्रिय–अनैक्य हो तो इन्द्रिय–अनैक्य–जन्य ग्राहकता–भेद का वस्त्वर्थ कौन करेगा? अंतः–स्थित इन्द्रियों के भेद से जो अंतः के ही अनेक होने का विसंगत अनुभव उभरेगा, उसमें ऐक्य का सामंजस्य बिठाता 'मन' जैसा यहां क्या होगा? बाह्येन्द्रियों के अनैक्य और बोध–भेद का समन्वय या यह कहना चाहिये कि इन्द्रिय–प्रदत्त बोध–सामग्री का वस्तुरूपेण अर्थ मन ही करता है। अंतः में भी इन्द्रिय–अनैक्य और उनकी साक्ष्य–भिन्नता की बात करें, तो वहां अलग से 'मन' जैसी किसी सत्ता की बात करनी होगी जो बात बेतुकी ही ठहरती है। और, चलिये, अनैक्य न भी सहीं, अन्तः की इन्द्रिय अगर बाह्य–इन्द्रिय जैसी कुछ हो तो चाहे एक ही क्यों न हो, तो भी मन जैसी किसी सत्ता के बिना उसके संकेत से कोई वस्तुबोध नहीं उभरेगा। हमने ऊपर देखा कि इन्द्रिय तो करणमात्र होती है। बोधहीन। अर्थ तो मन करता है; पर 'मन' यहां क्या होगा?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पर यहां आगे बढ़ने से पहले इन्द्रिय–अनैक्य के एक और पक्ष पर ध्यान दीजिये। विषय–वस्तु के ऐक्य–बोध के लिये इन्द्रिय का अनेक होना अनावश्यक ही ठहरता है। पर इन्द्रिय ज्ञान का ही नहीं, भोग का भी करण होती है। और यह देखिये कि इन्द्रिय का भोग–करणत्व ही इन्द्रियानैक्य को फलानैक्य की सार्थकता देता है। इन्द्रियानैक्य बाह्य जगत् की प्रतीति को जो समृद्धि देता है उसे हम बाह्य के वस्तु–स्वरूप से बाह्य ही रखते हैं : यह इन्द्रियानैक्य प्रतीति के विस्तार को जिस रूप में वितत करता हैं, उस रूप को हम आभास मात्र समझते हैं : वस्तुबाह्य। इन्द्रिय–अनैक्य हमारे जगत् को रूप, रस, गंध, ध्वनि, आस्वाद, स्पर्श, काम–स्पर्श मय बनाता है। वस्तु–दृष्ट्या हम बाहर के इस विस्तार के निराकरण का ही मार्ग लेते हैं। उसे प्रतीति–मात्र कह देते हैं। पर अंतः तो प्रतीतिमय, प्रतीति–जीवी होता है। इन्द्रियों के विस्तार से अंतः की प्रतीति को जो विस्तार मिलता है, उसे आभास–मात्र कह कर नहीं टाल दिया जा सकता। उसको प्रतीति–सार कह देने से उसका निराकरण नहीं होता। अंतः–बोध तो होता ही प्रतीति–सार है। प्रतीति का विस्तार हमारे बोध–जगत् का विस्तार होता है। दर्शन करते हुए हम अकसर भूल जाते हैं कि इन्द्रिय केवल ज्ञान के लिये ही नहीं होती। बल्कि ज्ञान में तो हम इन्द्रिय को बाधक भी पाते हैं। इन्द्रिय से बाह्य का जो आभास, जो प्रतीति होती है, वह वस्त्वर्थ के ज्ञान में आड़े ही आती है। इन्द्रिय–प्रतीति का अर्थ तो भोग में ही अनुभूत होता है। यह ठीक है कि हम बाह्य–जगत् में क्या है, क्या क्या है, जैसा प्रश्न करें तो इन्द्रिय को ज्ञानेन्द्रिय के रूप में ही देखने का मार्ग लेते हैं, पर अंतः के लिये या 'मन' के लिये ही कहिये – बाह्य जगत् वस्तुतः आस्वाद का क्षेत्र होता है, और यहां इन्द्रियों का अनैक्य अर्थ को, भोगार्थ को, विस्तार देता, गहराता उभरता है (चाहे साथ ही भोग–कोटिक आस्वाद–वैपरीत्य को भी वृद्धि देता हो)। हमारे अंतः के लिये यह विस्तार और भी विस्तार की संभावना रखता विस्तार होता है : क्योंकि इस विस्तार को हम साधते–बढ़ाते हैं : रूप, रस, गंध, इनके, शिल्प, विद्यायें, शास्त्र बनाते हैं। भूलना न चाहिये कि मन या अंतः की (चेतना की) बाह्योन्मुखता केवल ज्ञान के उद्देश्य से नहीं होती। सच यह है कि बाह्य–जगत् में क्या है, बाह्योन्मुख चेतना के लिये यह प्रश्न भी केवल जानने के प्रयोजन से नहीं होता। बल्कि, कह सकते हैं कि चेतना में भोगोन्मुखता ही अधिक गहरे जड़ करती है। यों देखिये तो सही और चुभता हुआ प्रश्न यहां यह है

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कि इन्द्रिय अगर केवल ज्ञान के लिये होती तो वह होती भी क्या? अंतः के लिये क्या है का ज्ञान–लक्षी प्रश्न भी विशुद्ध ज्ञान का नहीं, हानोपादान का प्रश्न होता है, ज्ञान जहां भोगांग होता है। यों भी केवल बाह्य–जगत् में क्या है, मात्र ऐसे ज्ञान का अर्थ ही क्या? भोग–वृत्ति न हो तो अकेली ज्ञान–वृत्ति का क्या लक्ष्य, क्या तात्पर्य होगा!

बात यहां भोग–परता की या किसी भोगवाद की नहीं है। प्रश्न यहां यह है कि इन्द्रियां हैं ही क्यों? अंतः के संदर्भ में बात करें तो प्रश्न स्वाभाविक है। अंतः को हम ज्ञान–सर्वस्व नहीं पाते। भोग–सर्वस्व पा भी सकते हैं! प्रश्न हमारे लिये इन्द्रियों के होने के प्रयोजन का, अर्थ का प्रश्न है, और प्रश्न का कोई भी सार्थक उत्तर इन्द्रियों को केवल ज्ञानेन्द्रिय मानते–आँकते हुए नहीं दिया जा सकता। हां, हम (हम मनुष्य) आत्मचेतन होते हुए, भोग–परता को, भोगवाद को, अश्रेय भी मानते हैं; औचित्य के संदर्भ में भोग लांछना का शब्द बन जाता है। पर औचित्य का प्रश्न तो जिसे हम यहां ज्ञान कह रहे हैं, इन्द्रिय–लब्ध वस्तु–ज्ञान, उसके विषय में भी उठाया जा सकता है। ऐसे ज्ञान का अपने आप में औचित्य क्या? श्रेय क्या? मीमांसक (और सर्ल जैसा 'आधुनिक' दार्शनिक भी) ठीक ही, क्या है के ज्ञान का श्रेय–बोध से कोई संबंध नहीं देखते! श्रेय का भोग और ज्ञान से क्या संबंध है? यह हमारे प्रश्न ही बना रहता है, और बड़ा चुभता हुआ प्रश्न है। पर अभी यहां प्रश्न यह नहीं है। प्रकट ही, यह क्या है का प्रश्न है ही नहीं, चाहे बात बाहर की हो या भीतर की। पर, हां, यह कह सकते हैं कि हमारी जिज्ञासु चेतना के लिये यह प्रश्न क्या है के प्रश्न से कहीं गहरा है। यह प्रश्न हमें सहज ही क्यों है के (और इस प्रश्न में ऊह्य, क्या होना चाहिये) के प्रश्न की ओर ले जाता है। आज हमारा विचार–संस्कार क्यों है के प्रश्न की ओर जाने से ठिठकता है, पर क्यों है का प्रश्न क्या है के प्रश्न से सचमुच असंश्लिष्ट नहीं किया जा सकता। प्रश्न का मुँह अपनी ओर कीजिये और पूछिये : 'मैं क्या हूं'। इस प्रश्न को उठाये बिना क्या है का प्रश्न ही अधूरा है। और मैं क्या हूं, यह प्रश्न इन्द्रिय के ज्ञान को उतना नहीं, जितना इन्द्रिय के भोग को ऊह्य रखता हुआ उठता है, क्या है का ज्ञान जहां भोगांग होता है। क्योंकि मैं क्या हूं का प्रश्न उठे तो अनायास यह रूप लेता हुआ उठता है : 'क्या मैं भोग–स्वरूप हूं? कहना न होगा कि 'मैं क्या हूं' यह अंतर्मुखीन प्रश्न 'मैं' के स्वरूप का ही नहीं, उसके क्या है का ही नहीं – श्रेय का भी प्रश्न है, क्योंकि मैं स्वरूप से अपने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

को सिद्ध नहीं, साध्य पाता हूं : मुझे क्या होना चाहिये, यह प्रश्न मैं क्या हूं से अविनाभूतभावेन युगनद्ध रहता है, क्योंकि मेरे होने में ही श्रेय-बोध पिनद्ध है, श्रेय-बोध के बिना मैं हूं ही क्या! पर यह बात और है; यहां अवांतर है। यहां तो यह लक्ष्य कीजिये कि इन्द्रिय केवल मनुष्य की वृत्ति नहीं है। मनुष्य तो जीव-संसार का एक लघु सा अंश है। अधिकतर जीव तो इन्द्रिय-सर्वस्व ही होते हैं। उनका अंतः भी इन्द्रिय ही होती है; और मनुष्येतर जीव-जगत् में तो इन्द्रिय-दत्त ज्ञान को भोगांग माने बिना वहां इन्द्रिय की बात ही निरर्थक है। उपनिषद् की बात नहीं भूलनी चाहिये : आनंद से, आनंद के लिये, भूतों का जन्म होता है!

पर यहां लक्ष्य यह है कि अंतः का अगर निरिन्द्रिय, स्वतःस्फूर्त और अव्यवहित आत्म-बोध होता है तो आत्म के भीतर एक द्वैत की अनिवार्य उपस्थिति उभरती है। आत्म का अव्यहित आत्मबोध आत्म में ही द्वैत की अपेक्षा रखता है। जो दृष्टि अंतः में इन्द्रिय की बात करती है, वह दृष्टि इस आत्म-द्वैत से कतराना चाहती है; वह मनुष्य की आत्मचेतना को नकारना चाहती है। आत्म-चेतना को तर्क-विसंगत, अनवस्था-दिग्ध, और यों आत्म-व्याहत तक कहा ही गया है।

पर अपनी उस टोह पर फिर आइये कि अंतः में क्या है, क्या क्या है। अब, जैसा कि हमने देखा, अंतः-बोध अगर किसी करण या माध्यम की मांग नहीं करता, अव्यहित, स्वतःप्रकट, है तो अंतः में क्या है की टोह बाहर की टोह से कहीं सीधी, सरल होनी चाहिये। पर टोह कीजिये तो अनायास गहरी उलझन आगे आती है। अनजान की ओर ले जाती है। अंतः में क्या है, क्या क्या है, एक पहेली सा प्रश्न बन जाता है।

मैं एक मामूली से प्रयत्न से अंतः की वैसी टोह लेने की ओर झुक सकता हूं जैसी कि बाहर की लेता हूं, यह पूछता हुआ कि सामने क्या है, क्या क्या है। मेरा अंतः स्वतः-प्रकट ही नहीं होता, उसके भीतर बहुत कुछ है इसका मुझे अनुभव भी होता रहता है। और मैं सहज ही एक अवधान के साथ, अपने को देखने की एक अलग-सी चेष्टा के साथ भीतर मुड़ सकता हूं। यों तो एक अपने को देखता हुआ बोध मुझमें स्वभावतः जागता है। इसे मेरे आत्मचेतन होने का उजागर सा लक्षण कह सकते हैं। पर यहां अपने छोटे से प्रयास के लिये 'आत्मचेतना' जैसे शबेद से मैं कतराना भी चाहता हूं। 'आत्मचेतना' का एक व्यापकतर अर्थ (और सत्ता) भी है। आत्मचेतना चेतना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

की ही चित् की ही – अपनी ओर मुड़ती वृत्ति को कहा गया है। इसे चेतना की प्रत्यङ्मुखता भी कह सकते हैं क्योंकि इसमें हम चेतना को के कई परतों, कई क्षितिजों में खुलते पाते हैं, एक असीम अगाध की ओर उतरता बोध करते हैं। पर यह अगाध हमारी सहज स्फुट सी आठपहरी आत्मचेतना पर प्रकट नहीं होता, जिसकी हम यहां बात कर रहे हैं। आत्मचेतना की प्रत्यङ्मुखता संकेत हमारी विचार–वृत्ति में सबसे स्फुट जागता है : विचार स्वरूप से प्रत्यङ्मुख होता है, अपने को देखता हुआ, अपने पर विचार करता हुआ, भीतर, अपने ही अगाध में उतरता देखा जा सकता है उसे, जहां वह अपनी सीमा का बोध कर सकता है, और सीमा से परे की आहट भी पाता है। पर यहां हम आठपहरी सतह की बात कर रहे हैं; या यों कहिये कि हम अंतः के भीतर ही एक पराङ्मुख–से देखने की बात कर रहे हैं यहां, यह मानते हुए कि मेरे भीतर अभी क्या है, यह देखने के लिये किसी अगाध में उतरने की आवश्यकता नहीं। आत्मचेतना के लिये यहां हम 'स्व–संवेद' शब्द का प्रयोग कर सकते हैं। स्वसंवेद को उस टॉर्च के रूप में समझ सकते हैं, जो सामने क्या है इस को दिखा देती है। इसे एक ऐसा अनुव्यवसाय भी कह सकते हैं जो मुझमें अभी क्या है मेरे इस अपरोक्ष बोध को मुझ पर एक आत्मपरीक्षक ईक्षा के साथ प्रकट कर देने के लिये प्रवृत्त हो। या बात को यों कहिये। मैं अपने अंतः का साक्षी सहज ही होता हूं, आत्मबोध या स्वसंवेद कहिये – मुझमें सहज ही जागता है, पर मैं इस सहज जागते स्व–संवेद में आसानी से एक विशेष अवधान जगा सकता हूं, यह पूछता हुआ कि जो है, वह क्या है? थोड़े से आयास से ही यह क्या है की सजग टोह लेता अन्तरवलोकन सिद्ध हो सकता है। मैं लगभग बिना यत्न के ही इस प्रश्न के साथ अंतः की ओर मुड़ सकता हूं कि मुझमें अभी क्या है, क्या क्या है? यह बात वैसे ही थोड़े से विशेष अवधान की है जैसे मैं अनायास दिखती हुई बाहर की वस्तुओं को थोड़े विशेष ध्यान से देखूं। ऐसा मैं करता ही रहता हूं। मैं बाहर देखते हुए सामने क्या है, क्या क्या है, इसे जानता रहता हुआ भी एक विशेष जिज्ञासा, एक परीक्षा–करते ध्यान या अवधान के साथ भी जानने के लिये अलग से प्रवृत्त होता ही हूं। कुछ धुँधला हो, संदेहापन्न हो तो ऐसा मैं अनायास करता हूं। सहज ही भीतर भी मैं ऐसे अवधान के साथ प्रवृत्त हो सकता हूं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यह प्रतीत होना स्वाभाविक है कि मैं अंतः को देखने की ओर मुड़ूंगा तो बाहर से कहीं स्फुट–स्पष्ट रूप से अंतः में क्या है यह देख पाऊंगा, क्योंकि मेरे लिये मेरे अंतः से अधिक प्रकट, अव्यहित और क्या होता है? अंतः तो मैं ही होता हूं! पर मैं अवधान की दिशा भीतर मोड़ता हूं तो पाता हूं कि भीतर क्या है देखने का अनुभव बाहर देखने से नितांत भिन्न ही नहीं होता, विषम गुत्थियां जगाता है। जितने ध्यान से देखता हूं, 'दृश्य' और अदृश्य हो कर विलीन ही होता दिखता है! देखने की प्रक्रिया में ही दृश्य सामने से बिछल कर ओझल हो जाता है! जितने ध्यान से देखता हूं, मेरी देखती हुई साक्षी–चेतना ही बड़ी होकर ध्यान को घेरती खड़ी दिखती है। द्रष्टा ही मेरा दृश्य होता चला जाता है : जो देख रहा है, वही दिखने पर छा जाता है। शेष कहीं नेपथ्य में चला जाता है। यही बोध हावी रहता है कि 'मैं देख रहा हूं, देखने की कोशिश कर रहा हूं'। अन्दर के जिस क्या को देखना चाहता हूं, वह मानो दिये तले का अँधेरा हो जाता है। जितनी जागरूक तीक्ष्णता के साथ मैं देखने की ओर प्रवृत्त होता हूं, उतना ही अंतः में क्या है, यह अँधेरे में छुपता जाता है, अपना देखना ही आगे अड़ा दिखता रहता है। अंतः को बड़ी सतही खोज से देखना चाहता हूं तो भी देखता देखने को ही हूं। 'देखने' की यह विचित्र और दृश्य–विपन्न ही नहीं, विपर्यस्त, अटपटी स्थिति भीतर क्या है को आड़ में करती खड़ी दिखती है। मेरा द्रष्टा भाव जितना प्रखर होता जाता है, दृश्य उतना ही नेपथ्य–लोपी होता जाता है। अपने पर अचंभा होता है कि जानता मैं अपने अंतः को ही हूं, पर उसे ही सीधे सरल भाव से देख क्यों नहीं सकता! यह जानी–मानी बात है कि मैं बाह्य पर संशय कर सकता हूं, अपने अंतः पर संशय नहीं कर सकता। मेरा संशय मेरे अंतः के निःसंशय होने को ऊह्य रखता हुआ होता है। पर मुझे कितना ही निःसंशय बोध हो कि मेरा अंतः है, उसका अपना बहुरूप वस्तु–संसार है, पर मैं उस संसार को जब देखने लगता हूं, तो वहां क्या है, यह खोज मुझे संशय में डालती ही आगे आती दिखती है। मेरे अंतः में कितना ही कुछ हो, इसका मुझे साक्षात् अनुभूत–बोध भी हो, पर मैं देखने लगता हूं तो द्रष्टा ही सामने दिखता है। मैं अनुभव करता हूं कि अभी भी अंतः में कुछ है, कुछ कुछ हो रहा है। पर देखने बैठता हूं तो बस अपना देखना ही सिरसा की तरह बड़ा होता आगे आता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अद्भुत यह भी है कि हम अपने को दृश्य बनाते हैं तो जो दिखता है उसका देखना ही उसके निराकरण का भी हेतु हो जा सकता है! मान लीजिये मैं क्रोध में हूं (हमारे होने का एक बड़ हिस्सा हमारे आवेगों में होता ही है)। क्रोध पर देखने की दृष्टि डालता हूं तो क्रोध वह क्रोध ही नहीं रहता जिसे देखना चाहता हूं, या फिर रहता ही नहीं। मिट ही जाता है। हमारे आवेगों का यह बेढब सा होना है! उन्हें देखने लगें तो उनका होना अनहोने की ओर बढ़ निकल सकता है। मैं आवेग में होता हूं तो आवेग से तदात्म होता हूं, आवेग में ही नहीं होता, आवेग ही होता हूं, पर मैं जब द्रष्टा हो कर आवेग को दृश्य बनाता हूं, तो इसके लिये आवेग से हटना पड़ता है, और मेरा आवेग–आत्म जब मेरे द्रष्टा–आत्म का दृश्य हो जाता है तो आवेग का मैं मैं नहीं रहता, अनात्म–रूप लेने लगता है : मैं सोच सकता हूं, 'यह मैं नहीं हो सकता, यह मैं नहीं हूं'। और ऐसी स्थिति में आवेग विलीन होने लगता है। या मैं उसके होने के औचित्य को अपने सामने रखने लगता हूं : 'उसे होना चाहिये'। यों वह सिद्ध से साध्य हो जाता है, कैसा हो यह भी फिर विचार का विषय हो जाता है (या यों कहिये कि क्रोध फिर एक दृश्य वस्तु मात्र नहीं रहता, एक तात्त्विक अर्थ में द्रष्टागत हो जाता है)। या यह द्रष्टा–भाव बना ही रहे तो विचार के लिये आवेग एक ऐसी मानसिक अवस्था के रूप में आकलन का विषय हो जा सकता है जो मेरी नहीं किसी की भी हो सकती है : 'क्रोध का स्वरूप क्या, उसका उदय कैसे होता है?', ऐसे प्रश्न खड़े हो जा सकते हैं। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में आवेगों का (उनके शब्द में 'भावों' का) ऐसा वर्णन किया ही है। और अब आवेग का द्रष्टा होता हुआ मैं आवेग का अभिनय भी कर सकता हूं। यों मेरी आवेग की आविग्न प्रवृत्ति की वृत्ति ही अभिनय–विश्रांत (या शांत) हो कर बदल जा सकती है!

पर हम जब नाट्य पर, अभिनय पर, आये ही हैं तो द्रष्टा–भाव के भीतर ही एक अवधेय भेद की ओर ध्यान देते आगे बढ़ सकते हैं। आवेग मेरे अपनेपन का अंग होता है, या यों कहिये कि वह मेरे विषयीभाव में निविष्ट रहता है। तभी मैं आवेग से तदात्म हो पाता हूं। मैं जब आवेग का द्रष्टा होता हूं तो उससे तटस्थ हो जाता हूं, उसे विषय बना लेता हूं। पर तब उससे तदात्म नहीं रहता। पर मेरा द्रष्टा–भाव व्यापक है, उसका यह आयाम भी है कि मैं क्रोध से क्रोध जैसे किसी भी भाव से – तदात्म रहता हुआ भी उसे देख पाऊं। अभिनय में ऐसा होता ही है। ऐसा न हो तो अभिनय संभव नहीं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

होगा। वहां हम भाव–चित्त में रहते हुए भी भाव के द्रष्टा होते हैं, तभी उसे तदुचित चेष्टाओं में रूप दे सकते हैं। मेरे कहने का तात्पर्य यह कि मैं विषयी रहता हुआ भी विषयित्व का विषयी को विषय बनाये बिना भी द्रष्टा हो सकता हूं। और तभी अभिनय – और नाट्य – संभव होता है। अभिनय, और नाट्य, जिसका कि अभिनय अंग होता है, ये मेरे विषयित्व के विषयी–रूपेण स्वद्रष्टृत्व को सामने लाते हैं। पर ये विषयी को विषय नहीं बनाते। बात को नाट्य और उस पर किये गये विचार के माध्यम से और कुछ और समझा जा सकता है। नाट्य में भाव–चित्त की आत्मचेतना प्रकट होती है (या आवेग–चित्त कहिये; 'भाव' शब्द नाट्यशास्त्रकार भरत का है, प्रयोग में परिनिष्ठित है)। हम पाते हैं कि नाट्य के माध्यम से मुझमें उपजा क्रोध मुझमें जागता हुआ भी 'मेरा' नहीं होता। वह क्रोध किसीका नहीं होता, अभिनीत होता है। वह क्रोध–सामान्य का किसी काल्पनिक चरित्र विशेष में जागता रूप विशेष होता है। ऐसे नाट्य–निष्पन्न भाव को अभिनव ने 'साधारणीकृत' कहा है। पर कैसा होता यह भाव का साधारणीकरण? क्योंकि सच यह है कि मेरा द्रष्टृत्व जो कुछ देखता है उसे साधारणीकृत ही देखता है। मुझमें नाट्य–बाहर भी जो क्रोध जागता है, उसका जब मैं द्रष्टा होता हूं, तो वह भी मेरे देखने का विषय हो कर साधारणीकृत ही होता है (तभी उसको 'क्रोध' का नाम दे सकता हूं, उसका वर्णन, विवेचन, वर्गीकरण कर सकता हूं)। विषय–रूपेण दृष्ट क्रोध, मेरा हो या किसी का, क्रोध सामान्य ही होता है : साधारणीकृत। पर इसके लिये क्रोध का विषय होना आवश्यक होता है। नाट्योदित साधारणीकरण में ऐसा नहीं होता, वहां क्रोध के अनुभव में रहते हुए भी हम 'क्रुद्ध' नहीं होते; हम उसमें होते हुए उसे देखते हैं। तो, स्पष्ट ही, विषय रूप क्रोध के साधारणीकरण में और नाट्योदित साधारणीकरण में अंतर है। दोनों के द्रष्टृत्व में भेद है, और इसका हम अनुभव करते ही हैं। नाट्य–निष्पन्न भाव में क्रोध दृष्ट होते हुए भी विषय का रूप नहीं लेता हम उसमें तन्मय होते हुए भी उसे देखते रहते हैं; उसके द्रष्टा होते हैं। इस विरोधी–से–लगते उभयभाव के बिना नाट्य संभव नहीं हो सकता। स्पष्ट ही, नाट्य–निष्पन्न क्रोध का अनुभव करते हुए हम भाव–चित्त में रहते हुए ही भाव के द्रष्टा होते हैं तब हम पाते हैं कि भाव–चित्त के भीतर भी हमारा आलोचक भाव जागता रहता है, नाट्य में तन्मय हुआ भी नाट्य को जाँचता रहता है। या यों कहिये कि नाट्य का द्रष्टा विषयित्व में रहता हुआ ही विषयी–भाव का द्रष्टा होता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यों भाव अपना भोव–बोध रखता हुआ ही साधारणीकृत होता है, अपना विषयित्व रखता हुआ ही विषयी की दृष्टि में जागता है, विषय नहीं बन जाता। तभी उसे अभिहित नहीं, व्यंजित कहा जाता है।

ऐसे विषयित्व के भीतर ही जागते स्व–द्रष्टृत्व को हम नाट्य–द्रष्टा होते हुए ही नहीं, व्यापक रूप में भी पाते हैं : अपने साधारण अनुभव में भी जागता पाते हैं। अपने साधारण भावानुभव के भीतर भी हम भाव के विषयित्व में रहते हुए भी द्रष्टृत्व के स्पंद को जागता देख सकते हैं। नाट्य या दूसरी कलाओं में भाव का व्यंजित साधारणीकरण संभव ही इसलिये होता है कि वह अन्यथा भी होता है; हमारी चेतना के द्रष्टृत्व में ही निहित है। तभी मैं अपने अनुभूत भाव का द्रष्टा नाट्य में ही नहीं होता, आठपहरी अनुभव में भी होता हूं। हमने जिसे स्वसंवेद कहा वह सहज द्रष्टृत्व मेरे भाव–चित्त में भी जागता रहता है। मैं भाव में रहते हुए भी अपने भाव को देखने में समर्थ रहता हूं। इसे भाव का अनुव्यसाय भी कह सकते हैं। या संवेदना कहिये। थोड़ा भी भीतर उतर कर देखूं तो मैं पाता हूं कि मैं भाव में रहता हुआ भाव की ईक्षा–समीक्षा भी करता रहता हूं, भाव को भाव के भीतर से ही समझता–तोलता–परखता रहता हूं : मेरी यह आँख संवेदना की परीक्षक आँख होती है जो भाव को भावरूपेण अनुभूत करती हुई उसके भीतर से उसे जाँचती–परखती भी रहती है। हम विषयित्व के भीतर से ही अपने विषयित्व को तोलते परखते रहते हैं विषय–रूपेण नहीं, विषयी–रूपेण। विषयित्व के भीतर जागती आत्म–परीक्षा ही ऐसा कर सकती है। यह हमारी संवेदना का काम है। हमारी संवेदना भाव के स्वभाव को, उसके हृदय को भाव–मर्म को परेखती है : कैसा है यह भाव? हां, फिर हमारे द्रष्टृत्व का दूसरा पक्ष जिसे 'विवेचना–बुद्धि कह सकते हैं। वह उसे विषय बना लेती है। उसका वर्णन–विवेचन करती या कर सकती है। यह भी पूछ सकती है, क्या इसे ऐसा होना चाहिये? पर बुद्धि का विवेक, उसकी विवेचना, संवेदना को ऊह्य रखती है।

इस बात को भी नाट्य के माध्यम से समझा जा सकता है। नाट्य–निष्पन्न भाव के हम अनुभोक्ता ही नहीं होते, उसके परीक्षक भी होते हैं : भाव बना या नहीं, बना तो क्या चरित्र के, परिस्थिति के, अनुकूल था? क्षीण या अतिरंजित, 'गिलगिला', असम्यक्, अतिभावुक, अतिद्रवित तो नहीं था? भाव के इस भाव–स्वरूप का बोध भाव–चित्त को ही होता है, उसी को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हम संवेदना का नाम देते हैं। संवेदना परीक्षा भाषा में नहीं होती, भावचक्षु–दृष्ट साधारणीकृत भाव अभिहित नहीं व्यंजित होता है। उसकी विवेचना, भाषा में उस रूप को अभिव्यक्त करना, जैसा मैं यहां कर रहा हूं, वह विवेचना–बुद्धि करती है। पर विवेचना सम्यक् है या नहीं, इसकी भी हम भीतर ही भीतर जाँच करते हैं, ओर यह जाँच संवेदना की परख को ऊह्य रख कर ही हो सकती है। संवेदना व्यंजित होती हुई निःशब्द भी होती है, शब्द उसे विवेचना–बुद्धि – या इसी अर्थ में विचार–बुद्धि कहिये – वह देती है। पर विचार–बुद्धि की सशब्द अभिधा के पीछे व्यंजना का आधार रहता है, जिसके बिना यह अभिधा रूप नहीं ले सकती। और यह भी देखिये कि व्यंजना को अभिधा के विवेचन में सही रूप मिला या नहीं, इसकी भी हम जाँच करते हैं, और परीक्षा का आधार फिर यहां व्यंजना ही होती है। तो, कह सकते हैं कि हमारे भाव–चित्त को भाव का 'ज्ञान' होता है (हालांकि विषय–रूपेण नहीं होता इसलिये ज्ञान कहने से उसे आप कतरा सकते हैं), पर ज्ञान की तरह यह होता वस्तु–ग्राही ही है, भाव के सत्य को ही पकड़ता है। बोध के केन्द्र में यहां भी भाव का स्वरूप ही होता है, चाहे विषय–रूपेण न होता हो। मैं अपने भाव का इस रूप में 'ज्ञान' करता ही रहता हूं। मैं अपने भीतर किसी आवेग का उभार पाकर उसका द्रष्टा होता हूं तो भाव को विषय रूपेण ही नहीं देखता, विषयी–भाव में रहते हुए उसके विषयित्व रूप को भी परेखता हूं। बात यहीं तक नहीं रुकती कि 'मुझमें अमुक भाव है'। इसे बुद्धि का देखना कह सकते हैं। पर भाव को देखता मेरा द्रष्टा भाव–चित्त संवेदना की आँख से जब भाव के स्वरूप को देखता है तो उसे 'परेखता' भी है। 'परेखना' इसलिये कह रहा हूं कि इस द्रष्टा–भाव को बुद्धि के द्रष्टा–भाव से अलग किया जा सके। भावचित्त की आँख अपने ही भीतर जागते भाव के हृदय की ओर उन्मुख होती है तो वह स्वानुभूत भाव के 'तेवर' को, 'चरित्र' को, या कहिये उसके हृदय या मर्म को पकड़ना चाहती है।

यह बात केवल पहचान की, वर्गीकरण की, विवरण–विवेचन की नहीं होती (हालांकि ये भी उससे जुड़े रहते हैं, या आ जुड़ते हैं)। मेरा 'परेखना' भाव की उपयुक्तता को भी तोलता है, उसे होना चाहिये या नहीं, यह प्रश्न उठा सकता है। सच पूछिये तो हम पाते हैं कि मेरे भाव–चित्त के साथ मेरी विचार–बुद्धि ही नहीं, मेरा औचित्य–बोध, मेरा संकल्प–चित्त भी सहज युगनद्ध रहता है। इस बोध का संबंध मेरे सिद्ध स्वरूप से नहीं, मेरे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

साध्य स्वरूप से होता है। जहां बात मेरे विषयित्व की होती है, जैसे क्रोध में, या मेरी किसी और स्वान्तः—जागती प्रवृत्ति में, वहां मेरा संकल्प-बोध मेरी संवेदना और मेरी विचार—बुद्धि के साथ एकीभूत रहता है बल्कि कह सकते है कि वह बुद्धि से कहीं अधिक भाव का अंतरंग होता है। तभी मैं भाव का द्रष्टा होता हूं तो उसके होने का औचित्य जाँचता रहता हूं। मेरा 'परेखना' मेरे आत्मगत भाव को अनात्म ठहरा सकता है : पूछ सकता है, यह मैं हूं, पर क्या सचमुच मैं हूं, क्या मेरा यही वस्तु—रूप है? यों मेरे भाव—चित्तगत द्रष्टा—भाव के भीतर साध्य—गर्भ आत्मसंधान अविनाभावेन जागता है।

हमारा श्रेयबोध हमारे स्वरूप के ताने—बाने में गुँथा है। हम अपने को देखते हैं तो श्रेय—बोध की औचित्य—गर्भ दृष्टि स्वभावतः जागती है। और इसीलिये अंतःद्रष्टा को हम दृश्य से अलग नहीं कर सकते : द्रष्टा अपने को साध्य पाता है और अपने दृश्य स्वरूप से अपने को तदात्म पाता हुआ उसे भी साध्य पाता है।

यह ठीक है कि साधारण अनुभव में अकसर हमारी भावावस्था – या आविग्न अवस्था कहिये उस अवस्था में हमारा द्रष्टा—भाव गौण हो रहता है। हमारा भाव हम पर हावी हो कर हमें अपनी गति से बहाता बह निकलता है। तब मैं भाव ही होता हूं, उससे तदात्म होता हूं। पर चेतना की जागरूकता बिलकुल सो नहीं जाती। बनी रहती है। आत्मचेतना नेपथ्य में चली जाती है, पर जाती नहीं है, भीतर ही भीतर बनी रहती है – मेरा द्रष्टा—भाव कभी पूरा सुप्त नहीं होता। साधारणतः तो मेरा भाव—चित्तगत आपा 'मैं' और 'मेरा' के बीच आंदोलित रहता ही दिखता है, इधर या उधर झुकता हुआ। अगर मेरा मैं पूरी तरह आवेग से तादात्म्य होने की ओर झुक जाये तो मैं आपे से बाहर होता हूं; फिर आपे में आकर इस बात पर ग्लानि—बोध भी कर सकता हूं। अगर पागल न हो गया हूं।

पर एक और बात पर ध्यान दीजिये। अंतः पर संशय की बात को लीजिये। हम यह सोचते हैं कि अंतः में जो होता है, उस पर हम संशय नहीं कर सकते। वहां जो अनुभूत होता है, उसका अनुभूत होना ही उसके होने का प्रमाण होता है। बाह्य पर मैं संशय इसलिये करता हूं कि बाह्य स्वतः—स्फुट नहीं होता, इन्द्रिय—व्यवहित होता है। तभी उसको प्रमाणित करने के लिये मैं उसे देखने के अन्य परिप्रेक्ष्यों को ही नहीं, अन्य द्रष्टाओं के साक्ष्य को भी आधार बनाता हूं। वहां, मुझ पर प्रकट होना, यह अकेला प्रमाण

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

नहीं हो सकता। पर अंतः तो स्वतः–स्फुट होता है, उस पर संशय क्या? वहां अन्य का प्रमाण क्या? अगर अन्य के साक्ष्य को प्रमाण के रूप में ढूंढता हूं तो इस का अर्थ है कि वहां भी संशय संभव है। तो, अंतः–संशय पर आइये। थोड़ा सा भी ध्यान देने से खुल आता है कि अंतः में क्या है, यह अप्रकट ही नहीं रहता, जो रहता लगता है उस पर संशय का स्फुट स्थान भी बनता है। अनिश्चय ('अमुक इच्छा जो जागती दिख रही है, सचमुच है या नहीं?') और यों रज्जु में सर्प बोध जैसा भ्रम, या इस संदर्भ में आत्मवंचना कहिये, यह वहां भी संभव हैं।

हम शीघ्र ही पाते हैं कि अंतः की ओर देखता हमारा अवधान बार बार अनवधान से बिंध बिंध जाता है। जिस सचेष्ट द्रष्टा–भाव को हम यहां साधना चाहते हैं, हम उसे थोड़ी थोड़ी देर में बाधित होता पाते हैं। जो सामने है वह बह बह जाता है। बल्कि हमारा अंतःमुखी अवधान ही बह बह जाता है। अंतः में जो भी दिख रहा होता है, नेपथ्य में चला जाता है। ध्यान बना रहे तो वह फिर आ भी जा सकता है। उसके बारे में प्रश्न उठ सकता है, कहां गया था? बाहर होता तो हम सोचते कि 'था तो वहीं, हमारा ही ध्यान उचट गया था'। पर अंत में ऐसा अनुभव नहीं होता। क्योंकि जो था वह नहीं लौट सकता है, और ऐसा कोई देश नहीं जहां हम उसके 'चले जाने' या 'होने' की बात कर सकें। अंतः में देश नहीं होता। इस प्रश्न पर हम आगे आयेंगे, पर यहां इस प्रश्न पर आइये जो गहरा नित्य–पहेली–बना प्रश्न होता है हमारे लिये : जो अभी अंतर में है और जैसा लग रहा है (जैसा अनुभूत हो रहा है), क्या सचमुच वैसा है? मेरा क्रोध किसी और प्रवृत्ति का छद्म रूप तो नहीं? होता भी है। क्योंकि अकसर मैं पाता हूं कि जो क्रोध लग रहा था किसी और प्रवृत्ति का, यथा आत्मग्लानि का प्रच्छन्न रूप था। उसका यह भेख मुझ पर बाद में खुलता है। मैं अपनी ही अक्षमता को, हीनता को, खिन्नता, वैराग्य, या प्रेम को कभी अंतः की झल्लाहट के रूप में पाता हूं। अच्छे उपन्यासकार यह दिखाते ही हैं। पर यहां अपनी सतही खोज को लीजिये। अभी बैठे बैठे ही मुझसे कोई पूछे कि मन में क्या है, तो बहुत संभव है कि तत्काल कुछ दिखे नहीं, क्योंकि मैं देख नहीं रहा था, अंतः–प्रवाह में बह रहा था। मुझे सोचना पड़ेगा, झाँक कर देखना पड़ेगा कि अभी अंतः में है क्या, हो क्या रहा है? पर देखूं भी तो जो अभी अभी भीतर हो रहा था, सामने नहीं भी आ सकता है। सचमुच क्या था, इस पर संशय हो सकता है। यह बात वह नहीं कि मैं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अकसर मन की बात औरों से छिपाना चाहता हूं। सच यह है कि बहुत कुछ मुझ से भी छुपा रहता है, धुंध में रहता है, ओझल रहता है; स्वतःस्फुट तो नहीं ही होता। मेरे देखने पर भी प्रकट नहीं होता, या आलोक में कुछ और आता है जो तब नहीं था जब कि प्रश्न पूछा गया, 'मन में क्या है?'। यह जानना चाहूं कि सचमुच क्या था, तो संशय होना सहज है। और यहां मैं रज्जु–में–दिखते–सर्प को पास जा कर भी नहीं देख सकता कि रज्जु नहीं सर्प है। जो था वह संशय में ही बना रह सकता है।

मेरा अंतः मेरा चित्त ही एक निरंतर बहती नदी सा अनवरत प्रवाह में बहता रहता है। मेरा देखना जितना जागता है, उस प्रवाह में बहता हुआ जागता है। मैं पाता हूं कि मेरा सजग अंतः–द्रष्टा चित्त के उस प्रवाह में बार बार डूब कर अदृष्ट होता रहता है। वह बह निकल जाता है, और प्रवाह मुझसे–अनदिख–सा–रहता ही मुझमें बहता रहता है (जैसे जगत् का प्रवाह मेरे देखने से निरपेक्ष अपने आप में बहता रहता है; यह प्रश्न और है कि मेरे अंतः–प्रवाह का मेरी मृत्यु के बाद क्या होता है? पर जगत् का प्रवाह भी मुझसे निरपेक्ष क्या होता है, यह प्रश्न बना रहता है!)। अपने अंतः–प्रवाह का मैं एक निरंतर प्रवाह के रूप में बोध तो करता हूं, पर एक सीमा तक ही उससे अपरोक्षेण अवगत रह पाता हूं। अंतः का – चित्त–नदी का – यह प्रवाह स्वतः–प्रकट नहीं होता। स्वतः–प्रकट मेरा द्रष्टा ही होता है। द्रष्टा उस प्रवाह को थोड़ा ही देख पाता है, जैसे जगत् के प्रवाह को, बाकी अनुमान और विचार की बात होती है। पर हां, मैं अपनी खोज में अपने अंतः–देखते द्रष्टा को – अपने स्वसंवेद को – थोड़ा सावधान रखूं तो देख पाता हूं कि प्रवाह है; अपनी स्वतंत्र गति से निरंतर प्रवहमान है। मैं यह भी भाँप पाता हूं कि उस प्रवाह में एक भानमती का पिटारा बहता रहता है, या कह सकते हैं कि वह प्रवाह ही न–जाने–क्या–कुछ का पिटारा है, जिसमें मैं अपने को बहता पाता हूं, जो मैं ही होता हूं (इसी लिये मैं अपने 'मैं' को ही अपने भीतर ढूंढू तो उसे अलग, विविक्त, कहीं नही पाता हूं)। पर कब क्या बह रहा है, इसका एक अणु सा अंश ही सामने आता है। पिटारे में हमारी वृत्तियां, प्रवृत्तियां, प्रवणतायें, इच्छायें, आकांक्षायें, स्मृति, संकल्प, विकल्प, सोच–विचार, राग–द्वेष–पली हमारी उ़न्मुखता, इन्द्रिय–दत्त बाह्य संकेतों, व्यवहार के संस्कारों, अनुभवों से उद्दीपित प्रतिक्रियायें, (और साथ ही अंतः–द्रष्टा बन के हमारा यह देखना) ये सारा पसारा ऊर्मियों में बहता, टकराता, बिखरता रहता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है। हमारा सचेष्ट द्रष्टा, कितना ही सजग रहना चाहे, उसमें बहता हुआ, उसके छिद्रों में ही जागता है; बहता, डूबता, कुछ थोड़ा सा ही जागता रह पाता है। नदी के प्रवाह में बहता हुआ कुछ सर ऊपर उठाता है, थोड़ा कुछ देखता है पर अपने को फिर फिर प्रवाह में डूबता ही पाता है। द्रष्टा और दृश्य दोनों नेपथ्य को जाते हुए दिखते हैं। और आवेग के तीव्र वेग में, घोर विषाद में, भय, आतंक की विभीषिका में, स्वप्न में, सुषुप्ति में, मूर्छा में दोनों ही गभीर से गभीरतर अंतःसलिल हो जाते हैं। मूर्छा, सुषुप्ति जैसी अवस्थाओं में नदी ही अंतर्गर्भ, अंतर्धान हो जाती है, न जाने कहां जाती है, लेकिन जागने पर वही की वही, वहीं की वहीं, उन्हीं ऊर्मियों में प्रवहमान हो बह उठती है। मृत्यु के साथ उसका क्या होता है, यह पहेली ही रहता है और मृत्यु अनिवार्य है, यह हम जानते हैं (और इस जानने के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती)।

नदी के नेपथ्य में झांकने के लिये स्वप्न को लीजिये। स्वप्न में चित्तनदी का प्रवाह विचित्र प्रकार से गुहाहित हो कर रहस्यमय रूप—कल्पना में डूब जाता है। हमारे स्वप्न का एक अंश ही हमारी स्मृति में हमारे आगे आता है, और अकसर चौंका देता है, 'यह हम तो हैं, पर हममें यह क्या है, यह कैसे हम हैं'? हमारे इस होने का अर्थ क्या? दिन के आठपहरी ऊर्मि—जाल या बहते सेवाल, जंजाल – के साथ, जहां हम जागरूक, स्वस्थित, सयाने, आत्मविदित हम होते हैं, इसका उससे संबंध क्या? यह प्रश्न बना रहता है। संबंध जो भी हो, बड़ा कुटिल, वक्र ही नहीं, गूढ़, अज्ञेय सा है। फिर भी यह निःसंदेह है कि स्वप्न का मैं मैं ही होता हूं, और जानता हूं कि मैं हूं, जागृत चेतना को कितना ही पराया, अनपहचाना क्यों न लगूं। स्वप्न का 'मैं' मेरी आत्म—कल्पना का मैं भी नहीं होता, जैसा कि दिवास्वप्न में या स्व—विषय संकल्प—विकल्प में होता है 'ऐसा हूं मैं, ऐसा हूंगा, यह करूंगा, वह करूंगा, यूं करूंगा, यह हो जायेगा, वह कर डालूंगा, वह हो जाऊंगा..'। मेरी अस्मिता का यह मैं, जिसे मैं कहानी के चरित्र की तरह समझता—आँकता हूं, वह मैं वही होता है जो मेरी आत्म—कथा का मैं होता है, उसे ही मैं अपना मैं समझता—कहता हूं। पर मेरे स्वप्न का मैं मेरी इस आत्म—कल्पना का ठोस—सा—लगता, वास्तव—जैसा मैं नहीं होता, हालांकि उसमें भी अस्मिता बोध उतना दृढ़ होता है, जब तक कि स्वप्न होता है : 'यह मैं ही हूं', यह अनुभव स्वप्न में उतना ही घनिष्ठ भाव से अनुस्यूत रहता है,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जितना जागरण में। स्वप्न के भोग–दुर्भोग 'मेरे' ही होते हैं। बड़े निबिड़ भाव से मुझ पर हावी होते हैं : मुझे अभिभूत–करते 'मेरे' होते हैं। यह प्रश्न और है कि स्वप्न के मैं का जागरण के मैं से संबंध क्या? प्रश्न प्रश्न ही बना रहता है, चाहे इस पर बहुत कुछ सोचा–लिखा गया हो; पर यहां यह विचार अनावश्यक है। पर जो भी हो, स्पष्ट ही स्वप्न में 'मैं हूं' यह बोध रहता है। हां, जागरण से भिन्न होता है : उसमें स्वसंवेद की जागरण–जैसी तटस्थता नहीं होती। हो तो स्वप्न नहीं होगा। जागरण का द्रष्टा या जागृत स्वसंवेद कहिये वह कितना ही सतही हो, कितना ही पराङ्मुख हो, पर स्वरूप से प्रत्यङ्मुख होता है, एक अगाध आत्मचेतना में बसता है, द्रष्टा–भाव का भी द्रष्टा और तद्द्रष्टा, तत्–तद्द्रष्टा होता है, या सहज ही हो सकता है; स्वप्न के मैं में यह संभावना नहीं दिखती। जागने पर स्वप्न के मैं में मैं का बोध ही उचट जाता है। वह जागृत द्रष्टा का विषय हो जाता है। तभी स्वप्न की स्मृति या उस पर विचार की बात स्वप्न के बाहर ही होती है, जबकि प्रत्यङ्मुख, स्वदृष्ट–द्रष्टा जाग उठता है।

पर हम यहां जिस सतही, पराङ्मुख पर सजग, टोह–लेते द्रष्टा की बात कर रहे हैं, उसके देखने की सीमा को समझने के लिये स्वप्न की बात काम की बात है, यह चित्त–प्रवाह के उस अनदिख ही नहीं, साथ ही अनजाने विस्तार की ओर गहरा इंगित है जहां क्या है, क्या हो रहा है, यह संशय सहज घर करता है। स्वप्न में हमारी चित्त–नदी का अनदिख, हमसे ओझल, हमारी समझ से भी गुहाहित विस्तार मानो प्रकट उभरता है। जिस द्रष्टा–भाव से हम अपने को देखने की ओर मुड़े हैं उसकी सामर्थ्य–क्षीणता यहां स्फुट आगे आती है : हमारा द्रष्टा स्पष्ट ही, नदी में बहता, नदी से किसी भी गहराई में, विस्तार में अनवगत–रहता, सीमित, उथला–सा स्वसंवेद होता है। पर हम अपनी ओर देखने लगते हैं तो हमारा द्रष्टा–भाव और स्वस्थित हो कर जाग उठता है। दिख जाता है कि हमने जो स्वसंवेद जगाया वह द्रष्टा–चेतना के निचले सोपान पर ही बैठा है। उसका देखना – उसका तटस्थ–भाव – भी स्वल्प ही होता है। तभी स्वप्न में ही नहीं, जागरण में भी हममें निरंतर बहती चित्तनदी हमारे सचेष्ट आत्मावलोकन की दृष्टि से छुपी ही रहती है। मैं उसका कितना ही अवलोकन करूं वह अनवगाह्य, अग्राह्य–सी रहती है। अग्राह्य–सी इसलिये कह रहा हूं क्योंकि उसकी उपस्थिति की आहट बनी रहती है। उसका कुछ अवलोकन–आकलन मैं कर भी पाता हूं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पर मेरा द्रष्टा विक्षिप्त होता रहता है, अपने ही भीतर क्या है, क्या हो रहा है, इस पर एकाग्र नहीं हो पाता। हाथ में आती बात भी फिसल फिसल जाती है। सोचूं कि अभी दो मिनट पहले मन में क्या तैर रहा था, तो कुछ पकड़ में नहीं आता। नदी का आकलन नदी की अनाकलव्यता ही दिखाता दिखता है। वैसे भी उसमें स्फुट–अस्फुट का झीना–गाढ़ा नीहार–सा बना रहता है। तभी ऐसा होता है कि मैं कुछ भीतर खोया हुआ सा रहूं (चित्तनदी के अस्फुट प्रवाह में बह रहा होऊं) और कोई मुझसे पूछे क्या सोच रहे हो तो मैं उस बहती अस्फुटता को स्फुट करने की ओर बढ़ कर भी थोड़ा ही बढ़ पाता हूं; या ऐसा भी हो सकता है कि जो अंतः में हो रहा है, उसे मैं समझ कुछ और ही रहूं, चाहे कितने ही विशेष अवधान से उधर देखूं। मेरा देखना बड़ा छिछला सा होता है। और शायद यह श्रेय ही है। सचमुच देख पाऊं तो न जाने किन अँधेरों में डूब जाऊँ, विवश बह जाऊँ। ऐसा होता भी है। पर ऐसा भी होता है कि अपनी ओर देख कर मैं कुछ उत्तर दे दूं, 'सोच रहा था कल क्या करूंगा' या ऐसा ही कुछ और। पर यह निरी ऊपर की बात होती है। नदी का रहस्य नीहार ही बना रहता है। मैं पुनरवलोकन करूं तो यह भी उभर सकता है कि मैंने जो उत्तर दिया वह सच था भी या नहीं, यह संदेह की बात है। और बात यहां संशय की ही नहीं, आत्मवंचना की भी होती है। चित्त–नदी का प्रवाह केवल धुंध में रहता ही नहीं, मैं अकसर उसे धुंध में रखना भी चाहता हूं। अपने से भी अपने को छुपाना चाहता हूं। ऐसे बोधों को लीजिये जो मुझमें जागते ही रहते हैं : 'मैं उसे चाहता हूं, उसके लिये सब कुछ कर सकता हूं, प्राण तक दे सकता हूं'। यह प्रवणता मुझमें सचमुच है या यों ही मुझे छलने के लिये श्मशान–वैराग्य जैसी तात्कालिक उछल आई है, यह मुझे नहीं दिखता। बल्कि मेरे स्वभाव–चरित्र को समझते अन्य की दृष्टि यहां पैनी हो सकती है। पर वास्तव क्या है, यह पहेली भी होता है। क्योंकि जो तात्कालिक है, वह गहरी प्रवृत्ति–प्रवणता का लक्षण भी हो सकता है। जीवन को किसी अब तक अनसोचे–अनसमझे मार्ग पर चलता हुआ हम पाते ही हैं। कुछ सचमुच है या अभी बस दिख ही रहा है, यह परीक्षा मैं ही कर सकता हूं, पर कभी कभी ही कर पाता हूं।

'चित्तनदी' शब्द पतंजलि पर व्यास का है, पर आप देख ही रहे होंगे कि मेरा प्रयोग उनसे मिलता हो, पर भिन्न है। व्यास चित्तनदी के किसी ब्यौरे में नहीं जाते; उसके बारे में कहते हैं कि वह उभयवाहिनी है, कल्याण की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ओर भी बहती है पाप की ओर भी। बात गहरी है, हमारी श्रेय–वृत्ति में गति के ये विपरीतमुखी मेरु देखे जा सकते हैं। पर हम एक और उभयमुखता की बात कर सकते हैं यहां। इस नदी को हम पराक् और प्रत्यक् बहता पाते हैं। एक ओर यह बाहर की ओर झुकी रहती है, पर दूसरी ओर इसमें असीम प्रत्यक्–भाव का क्षितिज भी खुलता दिखता है; जिस चेष्टा में हम यहां अभिरत हैं, उसमें तो वह और उभर कर आगे आता है। हम पाते ही हैं कि जिसे मैं स्वसंवेद कह रहा हूं, वह बाहर खुलती चौखट पर ही रहता है। या यों कहिये कि ऐसी टॉर्च की तरह होता है जो क्षण क्षण होते अनुभव को स्वप्रकाशित करता चलता है। या इसे एक स्वतो–जागृत आठपहरी अनुव्यवसाय जैसा कह सकते हैं। इसकी उन्मुखता तत्काल होते अनुभव की ओर ही झुकी होती है। पर जिस बहते पिटारे को देखने की ओर वह प्रवृत्त होता है, वह उससे छुपा रहता है। पर हमारा द्रष्टा–भाव, कितना ही उथला क्यों न हो, विचार में जागता है। हमारा द्रष्टा स्फुट विचार में बसता हुआ ही प्रवृत्त होता है, क्योंकि इसके बिना नहीं बनता। और विचार में स्वरूपतः ही प्रत्यङ्मुखता का गहरा, और–गहरा–हो–सकता बीज होता है, जो हमारी चेष्टा के साथ ही उर्वर हो उठता है। विचार स्वरूप से स्वद्रष्टा ही नहीं स्वपरीक्षक होता है। हमारा द्रष्टा अपने को विचार के ऐसे आत्मावलोकन–आलोचन की ओर स्वभावतः बढ़ता पाता है। जैसा कि यहां हो ही रहा है। द्रष्टा–भाव सजग रहे तो अपने को आत्मद्रष्टृत्व के और भीतर उतरता पाता है; बल्कि, वह यह पाता है कि इसके बिना वह अपने दृश्य के भीतर भी नहीं उतर सकता। सच तो यह है कि हमारा (आत्मचेतन मनुष्य का) देखना ही दृश्य–मात्र के प्रति सचेतन होना ही विचार की आँख के बिना नहीं होता। तभी जगत् हमारे लिये नाम–रूप होता है। मैं समझता हूं, जगत् की नाम–रूपता को विचार का सबसे निचला सोपान कह सकते हैं। नाम के साथ ही विचार की अपने भीतर उतरतीं (या कहिये 'चढ़तीं') सीढ़ियां शुरु हो जाती हैं।

व्यास की एक और धारणा को यहां लीजिये। व्यास चित्त की भूमियों की बात करते हैं। बात को हम अपनी तरह से ले लें तो उस द्रष्टा–भाव के साथ जोड़ कर देख सकते हैं जिसकी हम यहां बात कर रहे हैं। हम विचार की भूमियों की बात कर सकते हैं। यह भी देख सकते हैं कि विचार की भूमियां या सोपान ये एक–दूसरे से गुँथे, एक साथ संस्थित रहते

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

दीखते हैं। कह सकते हैं कि सब से निचली भूमि नाम–रूप की भूमि है, या मनुष्य के द्रष्टा–भाव की आधार–भूमि कहिये। पर नाम सामान्य होता है, वस्तु को उससे अलग नहीं किया जा सकता, और वह वस्तु का ग्रहण वस्त्वर्थ के रूप में करता है : वस्तु को संबंध और योजना तंत्र में रख कर देखता है; यह उसकी ग्राहकता का रूप ही है जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं। (सच तो यह है कि आत्मचेतना का द्रष्टा–भाव वस्तु का ग्रहण ही वस्त्वर्थ के रूप में करता है, चाहे 'नाम' न भी दे, जैसा कि व्यंजना के ग्रहण में होता है, जहां हम विषयित्व में रहते हुए विषयी–भाव का ग्रहण करते हैं; वहां भी ग्रहण द्रष्टा–बोध की सामान्यता में होता है, और वस्त्वर्थ का ही होता है। कला में नाम का स्थान भाषा–भिन्न पर भाषा–तुल्य अन्य प्रतीक–व्यवस्था ले लेती है, पर भावना के आत्म–मनन में आत्मसंवेदना–व्यापार में, जिसकी चर्चा हम ऊपर कर आये हैं, वहां भी, किसी प्रतीक–व्यवस्था के न रहते हुए भी, ग्रहण वस्त्वर्थ का ही होता है; यह बात ग्रहण की बुद्धिकृत विवेचना से प्रकट हो जाती है)।

द्रष्टा के लिये दृश्य का ग्रहण अगर अर्थ के रूप में होता है तो वह द्रष्टा–निविष्ट भी होता है; उसे द्रष्टा से अलग नहीं किया जा सकता। वस्तु को स्वस्थित्त, स्वतंत्र समझना यह वस्त्वर्थ के ग्रहण की प्रकारता का ही अंग है। हमारा ग्रहण वस्तु को विषय–रूपेण देखता हा, उसे स्वरूपेण स्वस्थित रखता हुआ उसकी उपलब्धि करता है; उसके लिये वस्तु का स्वतंत्र स्वस्थित होना वस्तु का वस्तुत्व है। यह उसके विषयत्व से ही उपपन्न है। पर चूंकि हमारा ग्रहण विचार का ग्रहण होता है, विचार का प्रश्न, संशय, ऊह (और उससे संश्लिष्ट अपोह) उसमें जागता रहता है, चाहे सदा जागरूक न रहता हो (या हम उसे ऐसा न रखते हों या न रख पाते हों)। पर बात को ऊह में लाया जा सकता है, और बात आये तो प्रश्न, संशय और ऊह–कल्पना की जिज्ञासामयी, युक्ति और अपोहमयी बहुमुख गतिविधि अपनी यात्रा पर चल निकलती है। हम वस्तु पर संशय कर सकते हैं, वह 'है' इस बोध का युक्तियों से अपोह कर सकते हैं। और द्रष्टा–भाव चूंकि स्वदृष्ट होता है, हम उसके किसा भी ऊह का युक्ति–भेद से अपोह कर सकते हैं; ऊह को दूसरे रास्ते ले जा सकते हैं। पर हमारा ऊह जिस जिज्ञासा में बसता है, वह होती सत्य की ही है, जिसे हम अर्थ के रूप में ग्रहण करते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

द्रष्टा विचारमय होता है। और विचार संभव ही तब होता है जब विचार- विषयी अपने दृश्य को – विषय को – अगने विषयित्व में समो लेता है। उसे प्रत्यय बना लेता है। विचार में चेतना का द्रष्टा–दृश्य युगल युगनद्ध रहता है। परस्पर–अविच्छेद्य। तभी विचार में प्रत्यय और प्रत्यय संबंधों की यात्रा सामान्य से सामान्यतर की ओर बढ़ती दिखती है; अपनी पारदर्शिता में और अंतरंग भाव से स्वदृष्ट होती चली जाती है।

आवेग या इच्छा या सुख–दुख, इनके साथ हम स्वल्पाधिक स्वसंवेद जागता ही पाते हैं, जिसे हम अधिक उन्निद्र, उदग्र भाव से जगा भी ले सकते हैं। जैसा करने को हम यहां प्रवृत्त हुए हैं। यह स्वसंवेद हमें अनुभव से बँधा–बिंधा प्रतीत होता है। अनुभव के साथ ही बहता रहता है। हम जब उसे सचेष्ट स्वत्मावलोकन के साथ देखने लगते हैं, जैसा कि हम यहां करने को मुड़े हैं, तो चेष्टा के साथ ही हमारे द्रष्टृत्व की प्रत्यङ्मुखता स्वप्रकट हो जाती है, उभर कर बढ़ती दिखती है, हमारा देखना विचार की अपनी सीढ़ियां चढ़ने लगता है। साथ ही 'दृश्य' का बोध भी। हमारा देखना एक ओर सूक्ष्म, और साथ ही, दूसरी ओर, व्यापक हो जाता है। हमारा देखना दृश्य के अंग–प्रत्यंग में, अणु में प्रवेश करने की ओर बढ़ता है हम वस्तु को एक ओर उसके अणु अणु में जान लेना चाहते हैं; पर साथ ही दूसरी ओर वस्तु को दृष्टि की व्यापकता में रख कर उसके संबंधों को समझने की ओर प्रवृत्त होते हैं। यह विचार में ही संभव है, क्योंकि एक प्रत्यय–योजना में ही रूप लेता है। हम वस्तु को जितना विविक्त देखते हैं, उतना ही उसे एक योजना के भीतर रख कर देखते हैं। हम बाहर देखें या भीतर, द्रष्टा–भाव के गहराने के साथ देखने के परिप्रेक्ष्य को – दृश्य को द्रष्टा के भीतर पाते हैं।

तो, हम अपने को देखना चाहें तो द्रष्टा की ओर ही दृष्टि डालनी होगी। द्रष्टृत्व के बिना हमारा अंतः (या बाह्य) का क्या है रूप कुछ भी 'दृश्य' नहीं होता। 'हमारा' शब्द यहां इसलिये भी उपयुक्त है कि विचार–करता द्रष्टा सामान्य होता है; मेरे अंतः में होता हुआ भी मेरा नहीं होता। और विचार का विषय विचार के विषयित्व में समोया होता है, उससे एकीकृत होता है : वह भी सामान्य होता है, नहीं तो विचार–दृष्ट ही नहीं होगा। हम अपने को जितना उदग्र भाव से देखते हैं उतना ही प्रकट दिखने लगता है कि हमारी द्रष्टृ–चेतना विचार–चेतना है। देखती वही है, भीतर हो या बाहर। बल्कि, बाहर–भीतर के भेद को भी वही उभारती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पर बाहर भीतर के भेद पर आये हैं तो एक प्रश्न उठाते चलें। हमने अंतः के व्यापारों की चर्चा की। प्रश्न स्वाभाविक है : ये सब होते कहां हैं? मैं अंतः की ओर देखता हूं तो देखता कहां हूं? ऊपर भी चर्चा के प्रसंग में यह प्रश्न उठा था।

सच पूछें तो यह प्रश्न अप्रश्न है। अंतः में परिसर की बात करना कोटि–व्यामोह है। वहां दूर, पास, दिक्, इनकी बात नहीं की जा सकती। यह कहना ही भ्रांत होगा कि मैं अंतः में दृष्टि को किसी सामने विस्तृत देश में इधर–उधर, ऊपर–नीचे डालता हुआ देखता हूं। अंतः के क्या है को ऐसे देखने के साथ नहीं देखा जा सकता। और इस बात से मैं अवगत रहता हूं। बल्कि, मैं अद्भुत भाव से यह पाता हूं कि मेरा अंतः–दृश्य मेरे द्रष्टा विषयी का विषय होकर, और यों उसका अभिन्न अंग हो कर भी उससे भिन्न ही नहीं उसका पर रहता है (उससे पराया रहता है)। तभी मैं दृश्य के बारे में बोध कर सकता हूं, 'मेरा दृश्य मैं मैं नहीं हूं, क्योंकि जिस मैं को देख रहा हूं, वह मैं हूं, पर वस्तु–मैं नहीं हूं, मेरा वह आत्म अनात्म है, उसका होना अनहोना ही है, उसे होना नहीं चाहिये'। स्पष्ट ही ऐसे द्रष्टा और उससे अभिन्न–भावेन्, आत्म–भावेन युगनद्ध दृश्य के बारे में यह पूछना कि वह कहां है, कोई सार्थक तात्पर्य नहीं रखता। और यहां यह भी सोचिये कि मैं अंतः के क्या है को बाहर जैसा सिद्ध नहीं, साध्यतानुविद्ध पाता हूं; तो फिर यों भी 'कहां' का देशगत प्रश्न निरर्थक ठहरता दिखता है!

दिखने में भी अंतः किसी बाह्य–जैसे देश या 'परिसर' में स्थित नहीं दिखता। और फिर यह भी है कि बाह्य के प्रति हमारा क्या है का प्रश्न वस्तु को सिद्ध, स्वप्रतिष्ठ, मुझसे स्वतंत्र, मान कर चलता है; उसे स्वरूपेण अनात्म यह मैं नहीं हूं – मान कर चलता है। पर यह अनात्मत्व आत्म की कोटि से ही बाहर होता है। इसके विपरीत, मुझमें उभरता अनात्म आत्मगत उभरता है। वह अपने को ही अप्रतिष्ठ करता निषेध, अपना अन्यथात्व, अपने भीतर ही लिये होता है। हमने पाया ही कि क्या है के प्रश्न का मुँह अंतः की ओर मोड़ लें तो प्रश्न किसी स्वप्रतिष्ठ, सिद्ध–प्रदत्त वस्तु का प्रश्न नहीं रहता, स्वरूपेण 'नहीं होना चाहिये या सार्थक कुछ होना चाहिये' की साध्यता से अनुविद्ध हो जाता है, जो साध्यता उसके सिद्ध–भाव का निराकरण पालती है। यों, क्या है के प्रश्न का आयाम, उसका पूरा क्षितिज ही बदल जाता है (पर क्षितिज जैसा शब्द यहां लक्षणा में ही प्रयुक्त हो सकता है; अंतः की बात हम लक्षणा का सहारा लिये बिना कर नहीं पाते, इसीलिये वहां देशत्व जैसी कोटि का व्यामोह होता है)।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पर एक अलग जाती हुई बात यहां कही जा सकती है। हम कह चुके हैं कि अंतः के बिना बाह्य अकल्प्य है। अंतः ही बाह्य के क्या है का निर्णय करता है। तो अब हम यहां यह भी देख सकते हैं कि अंतः के क्या है की साध्यता बाह्य में भी प्रसरित है। यों सोचिये। बाह्य का स्वतंत्र स्वप्रतिष्ठ सिद्धत्व अंतः की बाह्योन्मुखता पर ही प्रतिष्ठ है। पर अंतः अगर साध्य है तो फिर बाह्य भी उस साध्यता का अंग है। बाह्य का अन्यथात्व हम साधते ही हैं; अपने प्रयोजनों, अपने श्रेयबोध या सौन्दर्यबोध के अनुकूल साधते रहते हैं। बाह्य का सिद्धत्व इस साध्यता से तो अनुविद्ध रहता ही है कि वह कुछ और हो सकता है। पर बाह्य फिर भी रहता बाह्य ही है। बाह्य को हम अपनी स्वतंत्र योजना में प्रतिष्ठ पाते हैं। हां, इस योजना को हम अपनी जिज्ञासा का विषय बना कर उसमें उतर हम उसे अपने प्रयोजनों के लिये अन्यथा करते हुए उसका उपयोग कर सकते हैं। पर रहता वह हमसे अलग ही है; हमसे स्वतंत्र, स्वप्रतिष्ठ। एक गहरे अन्यत्व में बसता उभरता है। अंतः के विषय को हम विषयी–विषय कह सकते हैं, पर बाह्य हमारे लिये विषय मात्र होता है, विषयित्व की गंध से दूर। हम अंतः को जब विषय बनाते हैं तो एक सर्वथा भिन्न उपलब्धि जागती है : उसमें विषय का बोध नितांत विषय मात्र का रूप, स्वभाव नहीं लेता, उसमें अन्यत्व की परता नहीं उभरती; उसमें स्वकीयता की बुद्धि बनी रहती है, वह विषयिगत विषय होता है। वह 'मेरा' होता हुआ मेरी साध्यता के साथ गुँथा रहता है। उसका अन्यथात्व साधना स्वयं को ही साधना होता है। यों वह मेरे बाहर नहीं होता।

उसमें बाहर का देश भी नहीं होता। बाहर का देश मेरी बाह्य–को–स्वतंत्र–देखती दृष्टि का अंग होता है। अंतः को मैं इस दृष्टि से नहीं देखता।

उलटे, मैं अंतः को देश का निर्माता पा सकता हूं। अंतः बाह्य के सिद्ध प्रदत्त प्रतीत होते देश से भिन्न देश कई रूपों में अपने अलग देश की सृष्टि करता दिखता है। स्वप्न को ही लीजिये। स्वप्न की घटनायें देश में घटित होती हैं। पर यह देश बाह्य के सर्व–सामान्य देश से भिन्न होता है। कहा जा सकता है कि यह बाह्य की ही छाया होता है, बाह्य–संस्कार जन्य होता है। पर ऐसी बातें अंतः को निष्क्रिय और किसी अर्थ में बाह्य द्वारा सृष्ट मान कर ही की जा सकती हैं। पर ऐसा मानना एक अयुक्त आग्रह ही है। हम ऊपर कहते–देखते आ ही रहे हैं कि अंतः के बिना बाह्य का बाह्यत्व ही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अकल्पनीय है। और यह भी सोचिये। देश की कल्पना अगर हममें निष्ठ न हो तो बाह्य इन्द्रिय–प्रदत्त संकेत के न होने पर देश का बोध संभव नहीं होना चाहिये, पर स्वप्न को फिर से लीजिये। स्वप्न के समय तो कोई ऐसा संकेत होता नहीं। फिर स्वप्न का देश–बोध कहां से उभरता है। पर चलिये एक बार स्वप्न के देश को बाह्य संस्कार की विकृत संस्कार–छन्न छाया के रूप में हम देख भी लें, यह कहते हुए कि स्वप्न हमरी सृष्टि नहीं होता, वह स्वत; अपनी किसी कार्य–कारण परंपरा के अंदर रूप लेता है, जिस कार्य–कारण परंपरा का बीज बाह्य में होता है (चाहे उस क़ार्य–कारण परंपरा को हम ठीक समझ न पाते हों)। पर फिर यह देखिये कि हम जानबूझ कर अपनी जागरूक कल्पना से भी देश की सृष्टि करते हैं। हमारे कल्पना–सृष्ट देश के रूप भी अनेक हैं : चित्र में, कथा–उपन्यास में, मिथक में, नाट्य में, और सबसे बढ़ कर गणित में जहां देश के अनंत आयाम संभव ही नहीं, वस्तुतया प्रतिपादित होते हैं। चित्र, कथा, नाट्य के देश प्रदत्त देश के भीतर ही अपना अलग स्थान बनाते हैं जो बाह्य देश से भिन्न और स्वतंत्र होता है। सामने जो टँगा है उस चित्र के देश को प्रदत्त देश के भीतर रहते हुए भी प्रदत्त से अलग साधा गया है। वह देश बाह्य देश से स्वतंत्र अस्तित्व रखता है, उसके तीन आयाम नहीं, दो ही आयाम हैं। और उसे 'बाह्य' देश में यहां से वहां कहीं भी ले जाइये, उसका देश अपना स्वतंत्र रूप बनाये रखेगा। मुझे स्वतंत्र, स्वप्रतिष्ठ दिखेगा। देश की कल्पना अगर अपने आप में स्वतंत्र नहीं होती तो यह संभव ही होता। और यह कल्पना मेरी निजी नहीं, सामान्य होती है, इसे मैं अपनी भ्रांति या मोह कह कर नहीं टाल सकता। बल्कि इससे यह निष्कष निकाल सकता हूं कि बाह्य प्रदत्त देश के अनुभव का उत्स भी इसी तरह की सामान्य कल्पना है, चाहे उसमें (स्वप्न ही की तरह) 'मुझ–द्वारा–सृष्ट' का अनुभव न होता हो। बल्कि यह कल्पना स्वप्न की तरह व्यक्ति–सीमित, व्यक्ति–विविक्त नहीं, सामान्य चेतना में प्रतिष्ठ है। तभी जगत् को स्वप्न कहना अयुक्त नहीं जान पड़ता।

फिर भी, इतनी चर्चा के बाद भी, यह बोध बना रहे कि अंतः में देशवत् प्रसार होता है तो यह प्रश्न पूछियेकि विचार कहां होता है? विचार के बिना अंतः की कल्पना, उसका आकलन, नहीं किया जा सकता। उसे बाहर तो नहीं रख सकते, उसका अंतः में ही बोध होता है। अंतः के बिना उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। बल्कि विचार में ही अंतः स्फुटतम स्वतः–स्फुटतम रूपेण स्पंदित होता है। अंतः चेतन होता है, विषयी होता है,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

और विचार में यह विषयी–चेतना सर्वाधिक आत्मस्थ रूपेण जागती, स्फूर्त होती है। अंतः को जड़ माना जा सकता है, उसे जड़ का ही विवर्त कहा ही गया है। पर इससे विचार को जड़ कह कर निराकृत नहीं किया जा सकता; क्योंकि यह आत्मनिराकरण करता विचार ही है। हम विचार करते हुए विचार को असत्, निरर्थक ठहरा सकते हैं, पर फिर विचार का अपना होना कैसा? और कहां? चाहे विचार का होना आभास ही क्यों न हो, वह होता तो है ही? और बाह्य जगत् के देश–काल में तो नहीं ही होता है! अब, अगर उसके 'होने' को हम अंतः बाह्य, दोनों से अलग एक तीसरी कोटि दें तो क्या उसे अजड़ ही नहीं अचेतन भी ठहरायेंगे? क्या तात्पर्य होगा इसका? विचार हम एक कम की तरह करते हैं। यह कम हमारी विषयी–चेतना करती है; विचार को विषयित्व–निविष्ट नहीं रखेंगे तो कहा रखेंगे? यह बात और है कि विचार को अंतः में रखते हैं तो विचार उसे पहेली भी बनाता दिखता है। विचार के लिये अंतः की अपनी सत्ता, उसका स्वरूप, उसकी इयत्ता – उसका तत्त्व प्रश्न, संशय, प्रतिपत्ति, विप्रतिपत्ति का गुत्थिल कम ही बना रहता है। बाह्य जगत् क्या है? इससे कहीं उलझी हुई गुत्थी उभरती है यहां, क्योंकि बाह्य–जगत् तो अंततः अंतःगम्य ही होता है, अंतः के विषयी के बिना उसका होना क्या? इन्द्रिय हमारे लिये एक बाह्य–जगत् प्रस्तुत करती है, पर इन्द्रिय हमारे विषयित्व का ही अंग होती है। इन्द्रिय के संकेत का ग्रहण हमारी विषयी–चेतना ही करती है।

स्पष्ट ही, विचार को जो चाहे अपने वस्तु–सत् से स्वयं ही इनकार भी कर सकता हो उसे देश–निष्ठ तो नहीं कह सकते। यह ठीक है कि विचार अपने लिये पहेली ही रहता है। प्रश्न और संशय में ही जागता है। अनेकांत पालता है। पर वह अपने आप को ही नहीं, जिसे भी विषय बनाता है, उसे पहेली बना देता है। वह जब अंतः को विषय बनाता है तो बाहर की तरह ही वहां भी प्रश्न ही सामने खड़ा दिखता है। प्रश्न का क्रम यहां आ ठहरता दिखता है कि अंतः क्या बाह्य से वास्तव में भिन्न अपने आप कुछ है भी क्या? हम क्या केवल देह नहीं हैं, नितांत बाह्य, अंतः या मन क्या केवल देह की छाया नहीं है, आभास या प्रतीति मात्र? कई विचारकों के लियें अंतः न–कुछ ही होता है : तत्त्वहीन, या भौतिक तत्त्व की ही भूत–लीला कहिये। पर सत् की खोज भी विचार ही करता है। वही सत्य की आँख भी होता है। उसके बिना तत्त्व का, तत्त्व–जिज्ञासा का कोई अर्थ नहीं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पर, चलिये, अंतः के देश–काल पर फिर से आइये। माना कि अंतः में देश की बात सार्थक नहीं, पर क्या अंतः को काल में नहीं रखा जा सकता? अंतः को काल में रखने को विचार अनायास प्रवृत्त भी होता लगता है। पर 'काल में होना', इसका क्या अर्थ? यह ठीक है कि क्रोध, सुख–दुख, संकल्प, ये काल में रूप लेते हैं, पर काल में इनका होना जिस 'कहां' की अपेक्षा रखता है, वह काल में कहां होता है। काल में देश जैसा कोई अवकाश नहीं होता जिस अवकाश को इनके होने के 'कहां' के रूप में सोचा जा सके। हमने देखा कि अंतः को देश में नहीं रखा जा सकता, पर इसे देश में रखने का रास्ता लिया भी जा सकता है। हमारा शरीर देश में होता है, देश को ऊह्य रखता हुआ होता है, और शरीर न हो तो क्रोध जैसा कुछ होगा क्या? मन ही होगा क्या? इनके और भी स्ष्टतया शरीर में निविष्ट होने की बात भी की जा सकती है, की जाती भी है। मस्तिष्क की पेशियों को इनको अधिष्ठान कहा जाता है। आयुर्वेद के शरीर–विचार में जब गर्भगत शिशु–शरीर के विकास की बात की जाती है तो उन शिराओं, पेशियों के उभरने की बात भी की जाती है जिनमें क्रोध, ईर्ष्या आदि प्रवाहित होते हैं। पर प्रश्न यह उठता है : हम मान भी लें कि शरीर में आवेग, भाव, सुख–दुख, विचार का किसी रूप में अधिष्ठान होता है, तो क्या इनके शरीर में होने का अर्थ क्या शरीर में होना होता है? क्या इसका अर्थ 'शरीरगत होते हुए बाह्य–देशगत होना' हो भी सकता है? हो तो अंतः के होने का कोई अर्थ नहीं होगा। यह सत्य है कि हम इन अंतर्वस्तुओं का अनुभव सशरीर ही करते हैं। शरीर के बिना इनका अनुभव हमें अकल्प्य लगता है। पर इसका अर्थ यह भी नहीं कि हम शरीर देश में इनका अनुभव करते हैं। तो फिर इनके शरीर–संबंध का अर्थ क्या? यह संबंध रहस्यमय उभरता है – पहेली बना रहता है, पर अंतः को शरीर में अपचित कर देने पर पहेली सुलझ नहीं जाती। ऐसा होता तो पहेली ही नहीं रहती। अंतः की अपने आप में स्वतंत्र अनुभूति होती ही है, बड़े निबिड, अंतरंग भाव से होती है। उस शरीर–से–स्वतंत्र अनुभूति को भ्रांत कह देने से वह शरीरगत नहीं हो जाती। हो जाये तो और गभीरतया भ्रांत होगी!

और शरीर भी अगर जड़ ही है तो हम भी नहीं हैं; या यों कहिये कि हम विशुद्ध विषय ही हैं, विषयी विषयजन्य भ्रम है। ऐसा कहा भी गया ही है। पर अंतः के बिना शरीर का शरीरत्व भी कैसे बनेगा? और हम किसी अर्थ में जड़ जड़–विवर्त शरीर ही हैं तो फिर हमारा होना ही नहीं, सत्य–असत्य,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इनका प्रमाण, इनकी परीक्षा, होने न–होने का आकलन, सब शून्य होगा। विचार की यह विपर्यस्त दिशा हम नहीं लेना चाहते। क्योंकि फिर हमारे भीतर कोई प्रश्न भी वास्तव प्रश्न नहीं रहता, न जिज्ञासा, न किसी समाधान की साधना वास्तव रहती है!

पर, चलिये, माना देश में क्रोध के होने की बात हम नहीं कर सकते, पर काल में क्यों नहीं? ये अंतःगत स्वतंत्र वस्तु सही, पर उपलब्ध तो काल में ही होते हैं; हमारा अनुभव यह दिखाता ही है। तो फिर काल में ही उनके रहने की अधिष्ठान की – बात क्यों नहीं की जा सकती है? फिर यह भी सोचिये। क्रोध, विचार, ये भूत–पदार्थ नहीं हैं, तो इन्हें देश जैसे अवकाश की आवश्यकता भी नहीं है, पर इनके काल में रहने की बात तो अयुक्त नहीं दिखती है। इस पर आपत्ति क्या?

पर फिर यह सोचिये कि काल अधिष्ठान कैसे हो सकता है? वहां किसी कुछ के रहने का क्या अर्थ हो सकता है? कुछ जो होता है, वह काल में व्यक्त होता है, व्यापृत होता है; पर किसी कुछ के वहां 'रहने' का अर्थ नहीं बनता। बाह्य भूत–जगत् को ही लीजिये। काल न हो तो वह होता हुआ भी अव्यक्त रहेगा। क्योंकि 'होना' 'होता रहना' होता है। भूत–जगत् अगर स्थिर–स्तब्ध, स्थाणु भी हो तो भी उसे वैसा ही 'होता रहना' होगा, नहीं तो वह होगा नहीं, अव्यक्त ही रहेगा। हम पाते यह हैं कि जगत् जंगम होता है (तभी उसे 'जगत्' कहते हैं), उसका होना एक क्रिया, एक व्यापार होता है, और यह काल को ऊह्य रखता है। इस व्यापार को ही हम काल में पाते हैं, या इसके क्रम–स्थायित्व को ही काल कहते हैं (काल अपने आप में है या हमारी ग्राहकता का अंग है, यह प्रश्न यहां अवांतर है)। बाह्य पर विचार करते हुए हम अपनी व्याक्रिया के उद्ग्रहण में देश और काल को अलग कर सकते हैं, पर यह व्याक्रिया विचार–सार होती है; बाह्य–जगत् में देश और काल अविच्छेद्य हैं।

यहां उत्तर में कह में कह सकते हैं कि बाहर जो कुछ भी होता हो, अंतः का अनुभव भिन्न होता है। वहां काल का बड़ा अंतरंग अनुभव होता है। अनुभव होता ही काल में है : काल को अनुभव से अलग नहीं किया जा सकता, चाहे देश को कर भी लें। अनुभव की इस कालदिग्धता के आधार पर ही हम अंतः में जो होता है उसे काल में रखने की ओर मुड़ते हैं। इच्छा, क्रोध, कल्पना, संकल्प, विचार सब काल में होते प्रतीत होते हैं। हम काल

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

को सहज ही अंतः से जोड़ते हैं, वैसे ही जैसे देश को बाह्य से। तभी हम काल की देश के बिना अनायास कल्पना क़र सकते हैं। और तभी देश और काल को अलग कर देना, अपने आप में अलग सत्ता दे देना, यह अयुक्त नहीं जान पड़ता। अंतः में काल का अनुभव देश से अलग और प्रगाढ़ ही नहीं, बहु–आयामी होता है। हमारा अनुभव होता ही एक व्यापार है जो काल में होता है और अनुभव–भेद के साथ काल के बीतने का हमें कई तरह से, बड़ी विभिन्न द्रुत–विलम्बित गतियों से घनिष्ठ, तन्निष्ठ अनुभव होता है, जहां हम अपने आप को ही कालगत पाते हैं। अंतःदेश की बात हम लक्षणा में ही कर सकते हैं बाह्य को ऊह्य रखे बिना नहीं कर सकते। पर काल का हमें बड़ा सीधा, बड़ा अव्यवहित अनुभव होता है। बाह्यजगत् को जिस घनिष्ठता के साथ देश के साथ जोड़ते हैं, उसी प्रत्यक्षभाव से हम अंतःजगत् को काल के साथ जोड़ते हैं। यह निर्णय हमें सहज–स्वाभाविक जान पड़ता है कि बाहर जो कुछ होता है, वह देश में होता है, और भीतर जो कुछ होता है वह काल में। निष्कष यही निकलता है कि अंतः में जो कुछ है वह काल में है : काल उसका अधिष्ठान है।

एक बात और भी सोचिये। बाह्यदेश जिस 'जगत्' में होता है वह गतिशील, परिवर्तनशील होता है, अंतः की तरह ही व्यापारशील होता है; हम काल को वहां उतने ही प्रखर से भाव से पाते हैं, जितना अंतरानुभव में। पर बाहर का अनुभव सामान्य, सार्वभौम होता है, हम वहां काल की गति को आगे जाता हुआ ही पाते हैं। पिछला काल कहीं 'रहता' नहीं। पर साथ ही, काल आगे जहां जाता है, वह अगला काल भी रहता कहीं नहीं है। काल की गति जो आगे जाती प्रतीत होती है, यह हमारी आकांक्षा–अपेक्षा–निष्ठ उन्मुखता पर निर्भर है। व्यवहार की सामान्यता इस उन्मुखता के साथ स्मृति को पिरोते हुए, काल को एक परिसर सा दे देती है : हमारा व्यवहार, हमारा 'अभी' होना ही एक आगे–पीछे को समेटती अवधि के भीतर होता है, जिसे हम सामान्य स्वीकृत परिमाण दे कर नाप भी सकते हैं नापते ही हैं। परिमाण को बाहर की नियत या नियत–सी आवर्तित होती घटनाओं के आधार पर नापते हैं : सूर्य का नक्ताह्न–चक्र, ऋतु–चक्र, वर्ष–चक्र। इस चक्र–गति को यंत्रों की सहायता से और सूक्ष्मता से परिमात्रित भी करते ही हैं। काल की इस नियत, और फिर हमारे अपने लिये विशेषतः यंत्र–नियत या अन्यथा नियत् (चंद्र या सूर्य नियत, ऋतु–नियत) की गई चक्र–गति, के बिना हम अपने व्यवहार की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कल्पना नहीं कर सकते। हम काल के इस रूप के भीतर रहते हुए ही भौतिक जगत्–गत काल को समझने की चेष्टा' करते हैं। पर वह काल पहेली ही उभरता है। भौतिक तंत्र के गणित के लिये काल का अग्रोन्मुख होना आवश्यक नहीं। वह 'हमारे' काल से सर्वथा भिन्न होता है। उसके वास्तव स्वरूप के बारे में प्रतिपत्ति–सिद्धान्त–परंपरा की गति व्यवहार को आधार बना कर चलती हुई भी व्यवहार से बिलकुल अलग छिटक जाती है।

पर मेरे अंतः का अनुभूत काल भी व्यवहार के काल से बँधा नही होता। वहां काल के अनुभव में विचित्र गडमड, उद्भट अराजकता होती है। अनुभव की निभृति में काल अनर्गल भाव से आगे–पीछे आता–जाता रहता है; और एक साथ ऐसा करता प्रतीत हो सकता है। अनुभव का यह रूप हम कथा–कहानियों में पाते ही हैं। सच यह है कि जैसे इन्द्रियानुभव जैसे अंतः के काल में आकार लेता है, वैसे ही इच्छा, सुख–दुख, विचार काल में रूप लेते हैं। इससे अंतः और उसकी वृत्तियां–प्रवृत्तियां 'काल में' हैं, यह निष्कष नहीं निकलता। काल में व्यक्त होती हैं वैसे ही जैसे बाह्य जगत् काल में व्यक्त होता है (चाहे काल और जगत् दोनों ही चेतना चित् की कल्पना ही क्यों न हों)।

कहा जा सकता है कि हमारा अनुभव काल में होता हुआ काल का आकार भी लेता उभरता है। पर अंतः के अनुभव का यह काल बाह्यानुभव के काल की तरह अपने आप में स्वतंत्र नहीं होता क्योंकि सामान्य नहीं होता। उसे बाह्य–घटना–परिमात्रित नहीं किया जा सकता : उसका दिन, तु या घटिका–यंत्र जैसा सर्व–साधारण आवर्त या चक्र नहीं बनाया जा सकता। यह ठीक है कि हम आवेग, सुख–दुख, विचार, इनको अपने भीतर अभिव्यक्त पाते हैं तो काल में पाते हैं, पर हम यह भी पाते हैं कि इन अनुभवों का काल इन अनुभवों से अलग, इनसे स्वतंत्र कुछ नहीं होता, जिसमें ये अनुभव होते हैं। बल्कि ये अनुभव अपनी स्वभाव–गति रखते हुए अपनी अपनी तरह से काल को ही अलग अलग प्रवाह, अवधि की अलग अलग लय देते हैं। वैसे ही जैसे संगीत में हम स्वेच्छा से ऐसा करते हैं। कह सकते हैं कि संगीत में हम ऐसा कर ही इसलिये पाते हैं क्योंकि अनुभव का स्वरूप ही यह है। पर संगीत से भिन्न, ये अनुभव व्यक्ति–परिच्छिन्न होते हैं, काल–प्रवाह यहां किसी सामान्य काल–प्रवाह का अनुभव नहीं जगाता जैसा कि संगीत में संभव है (पर संगीत, जैसा हम देख चुके हैं, अपना अलग काल बनाता है)। व्यक्तिगत

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अनुभव में ऐसा कोई सार्वजनीन काल नहीं उभरता जिस काल का हम सब अनुभव कर रहे हैं, जैसा कि बाहर होता है, या अपनी तरह से संगीत में। पर फिर भी, निजी अनुभव में भी, एक सार्वभौमता का बोध बना रहता है : यह बोध कि 'अन्य को (अन्य मनुष्य को) भी ऐसा ही अनुभव हो सकता है'; पर यह बोध अनुभूत सुख–दुख, राग–द्वेष, संकल्प, विचार, इनको काल से स्वतंत्र ही उपपादित करता है। यह दिखाता है कि हमारी ग्राहक चेतना ही सामान्य होती है; किसी विशेष का ग्रहण उसे सामान्य में रख कर ही करती है।

हममें स्मृति न हो तो हम काल के अनुभव की बात भी कर सकेंगे क्या (भाषा भी स्मृति की अपेक्षा रखती है)? स्मृति काल में पीछे जाती है, पर काल का कोई परिसर तो क्या, कोई निरंतर सतत–खिँचती रेखा भी नहीं बनाती। बड़े अटपटे, बड़े अनचाहे–अनियत, अचिन्त्य भाव से पीछे जाती है। उसके पीछे जाने में किसी गति–क्रम की बात नहीं की जा सकती जो किसी काल–क्रम को ऊह्य रखता हो : उसका पीछे जाना काल के आगे से पीछे निरंतर क्रम से बिछे परिसर के भीतर चलते हुए 'पीछे जाना' नहीं कहा जा सकता। सच यह है कि काल आगे जाता हो या पीछे, उसमें किसी परिसर की बात बेबात ही उभरती है।

पर यहां काल के क्रम–परिसर का पक्ष रखते हुए एक और युक्ति दी जा सकती है। हमारी उन्मुखता भविष्यमुखी होती हुई स्वभावतः अग्रगामी होती है; उसमें एक सातत्य होता है जो काल के क्रम–नैरंतर्य को ऊह्य रखता प्रतीत होता है। काल के निरंतर क्रम से बीतते रहने का, आगे बढ़ते रहने का, बोध काल के अंतः–बोध के विचित्र प्रवाह के भीतर भी सतत बना रहता है। काल निरंतर आगे बढ़ता ही प्रतीत होता है। मैं स्मृति में पीछे भी जाता हूं तो भी यह पीछे जाने का व्यापार काल में अग्रोन्मुख ही प्रतीत होता है। स्मृति अपने कारणों–प्रयोजनों से नैरन्तर्य के क्रम को गडमड करती रहती है। पर वह ऐसा कर ही इसलिये पाती है क्योंकि पीछे सब कुछ व्यवस्थित बिछा होता है।

पर ऐसी युक्ति का अर्थ ही क्या? बिछा कहां होता है? काल में अवकाश जैसा कुछ कहां उभरता है, जहां कुछ 'बिछा' रहता या रह सकता हो। और आगे का काल तो कहीं होता ही नहीं; उसमें अवकाश की बात का क्या अर्थ हो सकता है! यह ठीक है कि काल बीत रहा है, यह बोध स्वप्न में भी बना रहता है। पर अपने बोध की भविष्योन्मुखता को हम काल की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अग्रेसर गति का आधार नहीं बना सकते। चलिये, काल का हमारा अंतः–बोध उसे अग्रमुखी ही पाता है, अन्यथा नहीं देख पाता; पर यह अग्रेसरता इस बोध का आरोप भी हो सकती है। वह गति वास्तव में आगे ही बढ़ती है या नहीं, इस पर प्रश्न उठाया जा सकता है। विज्ञान उठाता ही है। विज्ञान के लिये विश्व स्वभावेन गतिशील है। गति काल को ऊह्य रखती है। पर यह आवश्यक नहीं कि काल की गति को अग्रेसर ही माना जाये। विज्ञान का विश्व–तंत्र और उसका गणित इस विषय में अग्रोन्मुखता के प्रति निष्पक्ष रहता है : विज्ञान–निर्मित जगत्–चित्र के लिये काल तो आवश्यक है, पर उसे अग्रमुखी मानना आवश्यक नहीं। तो, काल के अग्रेसर प्रवाह का हमारा बोध अगर काल की अग्रेसरता का प्रमाण नहीं है तो काल की अग्रेसरता को ही नहीं, काल को भी बोध का आरोप देखा–कहा जा सकता है। विचार यह करता ही है। कहता है कि देश और काल हमारी ग्राहकता के अंग हैं। हां, हम अपनी अंतः–प्रतीति पर आयें तो हम पाते हैं कि यह प्रतीति हमें एक बीतते हुए काल में उपलब्ध होती है। पर उस प्रतीति में यह अनुभव नहीं होता कि कि इच्छा, संकल्प, भाव, विचार, ये काल में होते–रहते हैं। बीतने का अनुभव हमें अपने ही बीतते चलने का अनुभव होता है। 'हमारे बीतने' का अर्थ क्या, यह इतना स्पष्ट नहीं होता। यह गहरा बोध रहता है कि 'मैं, जिसे ये अनुभव हो रहे हैं, मैं बीत रहा हूं'। पर इच्छा, भाव ये अपनी जगह बने रहते हैं, ये नहीं 'बीतते'। ये बीतने की कोटि में नहीं आते, 'मैं' इस कोटि में आता हूं। यह बोध विरल नहीं कि मैं बीत जाऊंगा, इच्छा बनी रहेगी ('वो वलवले कहां, वो जवानी किधर गई')।

फिर भी आग्रह किया जा सकता है कि स्मृति में काल के किसी क्रम–निष्ठ परिसर का बोध न हो, पर यह बोध तो रहता है कि स्मृति हमें काल में पीछे ले जाती है। काल में यह पीछे जाना तभी संभव है जब यह किसी अवस्थित परिसर में होता हो; काल में ऐसा परिसर न हो तो अतीत में क्या था इसका हमें अनुभव ही नहीं होगा; स्मृति संभव नहीं होगी। काल अगर अतीत तक प्रसृत न हो तो हम अतीत की ओर जा ही नहीं सकते। कल्पना सहज है कि इस परिसर में ही अंतः की इच्छा, सुख–दुख विचार जैसी वस्तुएं रहती हैं।

पर यहां प्रश्न उठता है। आपत्ति यह खड़ी होती है कि काल अगर देशवत् परिसर–रूप हो तो हमारा बोध जैसे अतीत की ओर जाता है और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वहां क्या था यह देखता है, वैसे ही अनागत भी गम्य होना चाहिये, पर होता नहीं। उत्तर में कहा जा सकता है कि, चलिये, अनागत चाहे अगम्य सही, स्मृति काल में अवकाश की ओर तो संकेत करती ही है। साथ ही, स्मृति में जो काल का अनुभव होता है उस काल में हम अंतःगत इच्छा–द्वेष, विचार आदि के 'रहने' का भी अनुभव करते हैं। रही अनागत की बात। हम यह युक्त कल्पना कर सकते हैं कि हमें अनागत आज न दिखता हो, पर ऐसी आँखों का उदय संभव है जो अनागत को भी देखेंगी (किसी किसी में यह असाधारण दृष्टि पाई ही जाती है) और देख इसलिये पायेंगी कि काल में प्रसार है, अवकाश है। काल देशवत् बिछा रहता है। तभी हम महाकाल की कल्पना कर पाते हैं काल का एक ऐसा विराट्, व्यापक महापरिसर जिसमें सब कुछ रहता–होता है।

पर यहां फिर कुछ तीखे प्रश्न सताने लगते हैं। पहला तो यही कि ऐसे महाकाल के परिसर की कल्पना बाह्य–जगत् पर तो पूरी उतरती दिख भी सकती है, अंतः–जगत् का महाकाल क्या होगा? सच तो यह है कि काल के किसी सिद्ध–प्रदत्त देश–तुल्य परिसर की बात ही बाह्य के बारे में ही संगत लग सकती है, वह भी इसलिये कि वहां देश काल से अविनाभावेन युगनद्ध रहता है।

अंतः के अनुभूत काल पर यह विचार कीजिये : वह बड़ा व्यक्ति–निष्ठ होता है। व्यक्ति–भेद के साथ उसका अनुभव भी भिन्न और व्यक्ति–सीमित होता है। काल के किसी एक परिसर की बात का अर्थ बनता नहीं दिखता। फिर उसके प्रवाह की अवधि, उसकी परिधि, व्यक्ति के जन्म–मृत्यु के साथ बँधी होती है। किसी सामान्य व्यक्ति–ऊर्ध्व अंतः–काल की बात बनती नहीं दिखती जिसमें इच्छा, सुख–दुख, स्वप्न, संकल्प रहते हों। स्वप्न का काल अलग ही गुत्थी खड़ी करता है। स्वप्न अपना अलग ही काल–प्रवाह बनाता है, और एक नहीं अनेक प्रकार से बनाता है। हां, वह भी उसी तरह व्यक्ति–चेतना परिच्छिन्न या उपहित होता है, जैसे जागरण का कालानुभव। पर जागरण के कालानुभव में और स्वप्न के कालानुभव में महत् अंतर होता है। स्वप्न के किसी 'एक' काल की बात ही नहीं की जा सकती। एक ही व्यक्ति के अंतः में भी किसी स्वप्न–सामान्य काल की बात नहीं की जा सकती। और फिर यह सवाल खड़ा होता है कि स्वप्न या जागरण के काल में से किसी एक को दूसरे के ऊपर कैसे तरजीह दी जाये?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ऐसे व्यक्ति–परिच्छिन्न काल में इच्छा, संकल्प, विचार जैसी सामान्य अंतःवस्तुओं के रहने का क्या अर्थ बन सकता है? व्यक्ति नहीं रहता तो भी ये रहती हैं। स्पष्ट ही व्यक्ति के कालानुभव में चाहे वह स्वप्न का हो या जागरण का – इनकी अभिव्यक्ति की ही बात की जा सकती है, इनके रहने की नहीं।

हां, अंतः के अनुभव में होते काल को हम सामान्य रूप भी दे सकते हैं, जैसे नाट्य में, संगीत में, कथा–उपन्यास में; पर अनुभव का काल यहां अनुभव के अर्थ के रूप में उभरता है, हमारे द्रष्टृत्व का विषय हो कर द्रष्टृत्वगत होता है (इसकी हम ऊपर चर्चा कर आये हैं)। तभी सामान्य होता है। संगीत जैसी कला की अनुभूति में इस सामान्यता का हम साक्षात् भी कर सकते हैं। संगीत का काल लय–ताल में रूप लेता हुआ, अवधि के अपने अंतराल बनाता है, जिससे गति द्रुत या विलंबित साधी जाती है, इन गतियों के विविध विन्यास साधे जाते हैं, जिन्हें और हम बदल बदल भी दे सकते हैं, और यों संगीत की कृति विशेष के काल को अपनी तरह साधते हुए एक ही कृति को कई रूप भी दे सकते हैं, जैसा हम करते ही हैं। काल यहां संगीत–बद्ध होता है, संगीत का अपना काल होता है, उसके स्वतंत्र रूप–विन्यास का अंग। वैसे ही जैसे चित्र का देश चित्र का अपना स्वतंत्र देश होता है। कथा, उपन्यास, नाट्य का काल भी इसी तरह हमारी निर्मात्री कल्पना द्वारा रचित–रूपायित काल होता है। संगीत, नाट्य, उपन्यास, इन कलाओं का काल अनुभूत काल के अर्थ को व्यंजित करता है।

सच यह है कि जैसे इन्द्रियानुभव देश–काल का आकार लेता है, वैसे ही अंतः का अनुभव काल में रूप लेता है। अंतः का सत्त्व, उसकी वृत्तियां–प्रवृत्तियां सामान्य हैं, पर ये व्यक्ति–अंतः के जिस काल में व्यक्त–अनुभूत होती हैं, उस काल का भी कोई सामान्य सार्वजनीन प्रवाह है, यह बात अर्थ रखती नहीं दिखती।

हम विचार में फिर भी काल के ऐसे सामान्य प्रवाह की बात कर सकते हैं जिसमें अंतः और बाह्य दोनों को साथ रख सकते हैं, जैसा कि व्यवहार में करते ही हैं : तभी इतिहास संभव होता है, आत्म–कथा, पर–कथा (या कहिये कथामात्र), इनका कहना–सुनना संभव होता है। स्पष्ट ही इससे अंतः का काल व्यवहार का काल नहीं हो जाता। पर अंतः हो या बाह्य, जो कुछ होता है, वह काल में व्यक्त होता है, काल में होता नहीं है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यह सारा विचार हमें फिर विचार–करते द्रष्टा पर ले आता है। यह द्रष्टा और उसका विचार इनका अंतः में अनुभव होता है, पर ये काल में (या देश में) नहीं हो सकते। अगर इनका होना कालगत और देशगत हो तो देश–काल पर विचार ही संभव नहीं होगा। पर क्या यह अंतः में अनुभूत होता द्रष्टा और उसका विचार अंतः में होता है? पर द्रष्टा अंतः को दृश्य बनाता है तो वह दृश्य से अलग होना चाहिये। अब, अद्भुत यहां यह है कि द्रष्टा को दृश्य से क्या सचमुच अलग कहा जा सकता है? द्रष्टा अपने को ही दृश्य बनाता चलता है। उसे दृश्य से अलग नहीं किया जा सकता। द्रष्टा का द्रष्टृत्व उसके आत्म–द्रष्टृत्व में ही रूप लेता है। यह द्वंद्व ही उसका स्वरूप है। द्रष्टा अपने को देखता है तो विषयी हो कर अपने आप को ही विषय नहीं बनाता, विषय–मात्र उसके द्रष्टृत्व में आत्मसात् या विषयी–सात् – रहता है। विषय–विषयी–भाव अविनाभावेन युगनद्ध होता है। पर यहां हम फिर भी विषय के भीतर अंतः और बाह्य का गहरा तात्त्विक भेद कर सकते हैं। यह भेद द्रष्टा ही करता है; पर यहां द्रष्टृत्व के बोध में ही एक स्व और पर का अगाध सा अंतर उभरता दिखता हैं। अंतः को द्रष्टा स्व के रूप में पाता है, बाह्य को पर के रूप में्। हमने ऊपर जिस पदावली का प्रयोग किया है उसमें कह सकते हैं कि अंतः उसके लिये विषयि–विषय होता है, बाह्य विषय मात्र। बड़ी बात यहां यह है कि अंतः उसके लिये स्वरूपेण साध्य होता है, जबकि बाह्य सिद्ध। बाह्य की साध्यता अंतः की उपजीवी होती है।

देश–काल को देखता, उस पर विचार करता द्रष्टा देश–काल से स्वतंत्र होता है। द्रष्टा के साथ स्व–दृश्य के रूप में युगनद्ध, आत्मभावेन स्व–साध्य, द्रष्टा का विषयि–विषय अंतः, भी देश–काल में नहीं होता। फिर भी उसकी स्वतंत्र उपलब्धि होती है, वह अपनी सत्ता लिये उभरता है, अंतः के ही निःसंशय अनुभव में। पर अगर अंतः अपने आप में है तो फिर उसका स्वरूप क्या? विचार का उसमें स्थान क्या? यह प्रश्न हमारे लिये गहरे से गहरा प्रश्न है। हमारे अपने होने का, आत्म–स्वरूप का प्रश्न है। उत्तर हम विचार से ही ढूंढ सकते हैं। हम अंतः के विचार–चित्र बनाते ही हैं। चित्रों का अनैक्य सामने आता है। अंतः जो स्वतः–स्फुट जान पड़ता है, उसके विषय में अनेकांत और अनिश्चय विचित्र लग सकता है। पर बाह्य से कहीं अधिक ही जान पड़ता है। बाहर अनेकांत समझ में आता है। बाहर हमसे व्यवहित रहता है। पर अंतः और भी व्यवहित उभरता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अंतः देश में नहीं होता, पर लक्षणा में अंतः के 'परिसर' की बात की जा सकती है। लक्षणा का सहारा लिये बिना यों भी अंतः की बात दूभर ही नहीं, असंभव है। हां, ध्यान रहना चाहिये कि बात लक्षणा में हो रही है। बाह्यवत् देश जैसे किसी अर्थ को यहां ले आना स्पष्ट ही कोटि–व्यामोह होगा।

विचार ने अंतः के 'परिसर' या 'प्रसार' के जो कई चित्र आँके हैं उनमें से एक को विराट चित्र को लेता हूं। 'कोषों' की धारणा पुरानी है : अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय। इनमें क्षेत्र–भेद ही नहीं, स्तर–भेद (उच्चावचता का तारतम्य–भेद भी स्पष्ट है)। हम ये ही भेद न भी बनायें तो भी हमारे अंतःबोध में क्षेत्र–भेद तो उभरते ही हैं, उच्चावचता का बोध भी उभरता है, जिसे हमारी साध्यता से युगनद्ध देखा जा सकता है। बाहर की तरह ही हम अंतः में नानात्व के साथ ही क्षेत्र–भेद का अनुभव करते हैं। पर इस नानात्व के क्षेत्र, स्तर, उनके विभाजन इनको आँकने में हमें कितना ही विस्तार का अनुभव होता हो, 'देश' का प्रत्यय यहां लक्षणा में भी निरर्थक होता है। अंतः के क्षेत्र–भेदों के बीच कोई देशवत् सीमा सामने नहीं आती; फिर इन क्षेत्रों में उच्चावचता के जो आयाम उभरते हैं उसकी तो बात ही क्या! बाहर वैसा कुछ नहीं होता। बाहर शरीर–प्राण, इनको देखा जा सकता है, जो तन्निहित चेतना को, अंतः को, ऊह्य रखते हैं।

हम ऊपर देख आये हैं कि अंतः के किसी क्षेत्र की पहचान तक स्पष्ट नहीं होती। बहुत कुछ अदृश्य रहता है, जो उभरता है, ऐसी उलझनों में डाल देता है जैसी बाहर नहीं होतीं। बाहर का 'कहां है' सार्वजनिकतया उपलब्ध होता है, उसे दिखाया जा सकता है। अंतः में ऐसे 'कहां है' की बात बेमानी है, पर अंतः में भी क्या है, क्या क्या है की पहचान हम करते ही हैं, नहीं तो अंतः की बात ही संभव नहीं। यह ठीक है कि क्या है की पहचान बाहर भी वर्गीकरण की समस्या खड़ी करती है और वर्गीकरण पहचान का आधार होता है। सामने टेबल है पर 'टेबल' किसे कहें, यह समस्या खड़ी होती है। समस्या विचार की होती है क्योंकि टेबल जैसी वस्तु की पहचान में क्या है के साथ क्या होना चाहिये की परख का विवेक भी जुड़ा रहता है। सामने आदमी हो तो समस्या साफ़ दिख जायेगी। आदमी की परख परेशान करती ही है। और इसके बिना उसकी पहचान ही क्या? पर पहचान की पहली भूमि पर सामने दिख क्या रहा है, इस नामकरण की भूमि पर,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

बाहर क्या है, यह प्रश्न उलझन में नहीं डालता। सहज समाधेय भी होता है : सामने पेड़ पर क्या है? मैंने गिलहरी न देखी हो तो समझूंगा 'कोई जीव है', और कोई बता दे 'गिलहरी है' तो नामकरण की धरती पर अनायास उस जीव की 'पहचान' बन जायेगी। आगे कोई गिलहरी दिखेगी तो कहूंगा, 'गिलहरी'। अब, गिलहरी को रखा जीवों के किस वर्ग में जाये, और क्यों, 'जीव' किसे कहें, ये समस्यायें अलग हैं। ये नामकरण के स्तर से ऊपर ले जाती हैं। ये विचार की समस्यायें हैं। कहा जा सकता है कि वस्तु का नाम–रूप में अध्यवसाय (पहचान) भी विचार–चेतना का काम है, पशु में नहीं होता। पर यह विचार का काम है भी तो प्रश्न, संशय, परीक्षा से निचले प्रत्यक्ष और तत्संलग्न अध्यवसाय के स्तर से ऊपर नहीं उठता। इसे नामकरण का 'निष्क्रिय'–सा (मनुष्य–चेतना के लिये) प्रदत्त–सा स्तर कहा जा सकता है। प्रश्न जाग उठे तो विचार की अपनी टेढ़ी समस्याओं का द्वार खुल जाता है, जहां पहचान संशय में पड़ सकती है। प्रश्न नामकरण का नहीं, तत्त्व का प्रश्न हो जाता है। 'गिलहरी है', 'पर गिलहरी क्या', 'जीव है', जीव क्या, अजीव से उसका भेद क्या' ऐसे प्रश्न खड़े हो जाते हैं। जीव को एक अलग तत्त्व मान भी लें तो भी जीवों के प्रकार क्या, उनमें भेद क्या, भेद का आधार क्या, अमुक जीव को क्या सचमुच किस प्रकार–विशेष में रखा जा सकता है? ये समस्यायें बनी रहती हैं, पर पहले स्तर की पहचान (या अध्यवसाय) को ये कम छेड़ती हैं।

पर अंतः पर आइये तो अध्यवसाय अपने पहले स्तर पर ही उलझन में डाल दे सकता है। अभी मुझमें जो है उसे क्या नाम दूं, समझ में नहीं आता। अध्यवसाय ही नहीं बन पड़ता। साधारण सी पहचान भी टेढ़ी हो जाती है। 'कुछ तो है' कह सकता हूं, पर इसे वांछित पहचान कहूंगा क्या? बड़ी, और तात्त्विक, कठिनाई यह है कि अंतः–पदार्थों में स्तर–भेद या भूमिभेद, पहले स्तर पर ही होता दिखता है? हम पूछते ही हैं, काम है या प्रेम? उत्तर सीधा सा नहीं होता, और जो है वह दोनों भी हो सकता है, अकसर होता ही है। मुझमें जिस प्रवृत्ति या प्रवणता की अनुभूति हो रही है – या यों कहें कि चित्तनदी में अभी जो ऊर्मि सामने है, जिसमें मैं बह रहा हूं, वह क्या है, उसका नाम क्या? किस स्तर की है? अकसर यह भी समझ में नहीं आता कि मैं एक ही ऊर्मि में बह रहा हूं, या अनेक में्। मुझमें जो है, भूख जैसी शारीरिक वासना है, क्रोध जैसा कोई आवेग है या आत्मदैन्य जैसा कोई

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भाव? या तीनों हैं, और साथ ही और भी कुछ–कुछ है : इसका कोई सीधा सा अध्यवसाय हमें नहीं होता। फिर इनके संबंधों की तो बात ही क्या? रिरंसा को प्रवृत्ति–मात्र के संबंधों के मूल में रखा गया है। पर रिरंसा को मुमूर्षा का ही रूपभेद भी कहा गया है! तो, अचंभा नहीं कि अंतःचित्रों में भेद बाहर के चित्रों से कहीं व्यापक, अंग–प्रत्यंग–गामी होता है। भिन्न संस्कृतियों के अंतः–अंकन को लीजिये तो लग सकता है कि बात उस एक अंतः की हो ही नहीं रही जो सबके लिये सामान्य है, साक्षात् है। एक संस्कृति का अंतःफलक दूसरी से ऐसा भिन्न हो सकता है कि एक–दूसरे को समझने में उलझन की गाँठें ही उभरती दिखें। कविता, कथा, उपन्यास, इनका अंतः से जितना सीधा, घनिष्ट संबंध होता है उतना ही इनका अनुवाद टेढ़ा होता है। भिन्न संस्कृति में ही नहीं, उस एक ही संस्कृति में भी।

चित्त के कोषों का जो ऊपर चित्र आया है, वह हमारे यहां का चित्र है। ऐसा नहीं है कि ऐसे चित्र को अन्य संस्कृति के फलक पर समझा ही नहीं जा सकता; सफल अनुवाद के सक्षम मार्ग भी होते ही हैं। संस्कृत से तिब्बती, चीनी, जापानी भाषा में ही अनुवादों की घटा देखिये। पर ये उल्थे संस्कृतिगत मौलिक भेद को भी उभारते दिखाई देते हैं। लक्ष्य करने की बात यहां यह है कि हम किसी भी अंतः–चित्र को लें, अंतः के क्षेत्रों का कैसा भी भेद और विन्यास करें, इन क्षेत्रों का स्वरूप, स्वभाव, स्तर, विस्तार, परस्पर–संबंध, अन्योन्य–व्यावृत्ति की रेखायें (क्षेत्र–विस्तार में ही नहीं तारतम्य–स्वभाव में भी), धुँधली, अस्पष्ट ही नहीं गडमड रहती हैं। हमारा अंतःद्रष्टा कूल–किनारा नहीं पाता। कौन–सा, कहां, कैसा है, उसकी समझ में नहीं आता। हमारा अंकन क्षेत्रों–सोपानों को भिन्न भिन्न नाम देता हुआ बड़ा स्पष्ट, सुविभाजित मानचित्र प्रस्तुत करता प्रतीत हो सकता है (जैसा कोष–विभाजन में है), पर हम बोध और अनुभव की जिस तूलिका से हम चित्र बनाते हैं, वह तूली आकृतियों के बीच कोई स्फुट विभाजन रेखायें नहीं उकेरती, रंगों के मिश्रण से ऐसा चित्र बनाती है जिसमें एक क्षेत्र दूसरे में घुला रहता है, क्षेत्रों को अलग निर्धारित करती रेखायें की जगह, रंगों का एक घुला–मिला छाया–भेद या आभा–भेद ही आगे आता दिखता है। अन्नमय कोष और प्राणमय कोष को ही लीजिये; इनकी बात सार्थक लगती है : अन्न–पोषित शरीर और प्राण, इनमें भेद प्रतीत हो सकता है, प्राण प्रवृत्त होता है, उसमें चाह होती है, आकूति होती है, भूख, प्यास, कामैषणा होती है, शरीर–मात्र में यह नहीं होता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है : उसे सर्वथा निष्प्रवृत्त भाव से जिलाया रखा जा सकता है। पर कहना न होगा कि भेद अस्फुट, गडमड ही होता है। मनोमय, विज्ञानमय, आनंदमय, इन और ऊपर–स्थित कोषों पर आयें तो उलझन और गहराती जाती है। क्या भूख, प्यास, और काम, मनः–स्थित नहीं हैं; काम को तो मनसिज कहा ही जाता है, मन से ही उसकी उत्पत्ति हो तो उसे प्राणमय कोष में नहीं 'मनोमय कोष में रखना होगा!

लग सकता है कि अंतः के इन क्षेत्रों में गडमड केवल संज्ञा–करण की बात है, क्षेत्रों के स्वरूप की बात नहीं है और इस बात का ध्यान समीचीन संज्ञा–करण के साथ रखा जा सकता है। पर बात संज्ञा–करण की–सी सीधी–सी बात नहीं है ये क्षेत्र स्वरूप से ही जटिल–गुंथिल हैं। बहुस्तरीय हैं। 'काम' का प्रयोग 'रति–काम' के लिये ही नहीं होता, 'धर्म–काम' और 'मोक्ष–काम' जैसे शब्द भी प्रयोग में पाये जाते हैं। 'काम' न कह कर 'इच्छा' या 'चाह' कह लीजिये, पर अगर भूख भी इच्छा हो, और ज्ञान की इच्छा (जिज्ञासा) और मोक्ष की इच्छा भी इच्छा ही तो क्षेत्र–भेद और स्तर–भेद का क्या होगा? पर यह भेद भी अंतः–गोचर रहता ही है, कितना ही अस्पष्ट क्यों न रहे। कहा जा सकता है कि 'काम' को हम 'प्रवृत्ति–सामान्य' के अर्थ में ले लें तो कोष–भेद को साथ रखते हुए प्रवृत्ति के लक्षण का भेद कर ले सकते हैं, फिर गडमड नहीं रहेगा। पर पर गडमड तो स्वभाव से अंत–स्थ है। अंतः तो ऊँच–नीच, मेल–बेमेल का मेला ही बना रहता है : हमारी कामनाओं का या प्रवृत्तियों का गडमड किसी रास्ते सुविन्यस्त नहीं किया जा सकता, चाहे हम सोचें कि हमने ऐसा कर लिया है। अंतः वस्तुओं में, प्रवृत्तियों में, कौन सी क्या है, किस सोपान पर है, इस पहचान में हम धोखा खाते ही नहीं, अपने को धोखा देते भी रहते हैं। मोक्ष–कामना के साथ अन्य कामनायें न हों तो फिर मोक्ष काहे से? यह भी मानी हुई बात है कि अन्य कामनाओं में मोक्ष की कामना का धोखा हो जाता है; यही श्रेय–कामना के साथ भी होता है। तो गडमड, या व्यामिश्र कहिये, बहुत गहरा है : कोषों के चित्र के सहारे बात को कहिये तो कह सकते हैं कि कोषों का ही आपस में गडमड है। आशय यह कि समस्या यहां अंतः–वस्तुओं की, प्रवृत्तियों की, क्या संज्ञा हो, और उसका क्या लक्षण हो, इस पहचान को अधिक कस कर निश्चिंत–निर्धारित कर देने की नहीं है, क्योंकि अनिर्धारण यहां अंतः के स्वरूप में ही निविष्ट उभरता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पर देखने की बड़ी बात यहां यह है कि हम अपने सिद्ध नहीं साध्य पाते हैं, अपनी अंतः को प्रवृत्त पाते हैं, और प्रवृत्ति को सलक्ष्य पाते हैं, बहुलक्ष्य पाते हैं। अंतः को इस प्रश्न का नित्य प्राश्निक पाते हैं कि उसका लक्ष्य हो क्या? मेरा/हमारा प्रतिमान क्या हो? एक मूल प्रश्न यह जागता रहता है : क्या अंतः का कोई अपना स्वरूप–स्वभाव है जो हमारा साध्य है? है तो हमारे दूसरे लक्ष्य/लक्ष्यों का, प्रवृत्तियों का उस साध्य से संबंध क्या? उसे पाने के उपाय क्या, साधना क्या? ऐसे प्रश्नों को लेकर प्रवृत्ति और विचार–भेद का अनेकांत स्वरूपेण अनेक उभरता है! हमारा व्यवहार और उसका विचित्र गडमड बनता ही हमारे साध्य–स्वरूप और उसमें निहित अनेकांत से है।

अंतः को हम द्रष्टा से और द्रष्टा के विचार–स्वरूप से अलग नहीं कर सकते। अंतः के चित्र विचार–दृष्ट होते हैं, विचार के स्वरूप–निष्ठ अनेकांत में रूप लेते हैं। अचंभा क्या कि अंतः के चित्र तत्त्वेन परस्पर–भिन्न उभरते दिखते हैं। अंतः–चेतना में सोपानवत् ऊपर–उठते कोषों की बात दृष्टि विशेष या अंतः दृष्टि विशेष की ही बात है। पर दृष्टि–भेद के साथ अंतः का रूप ही भिन्न भी होता दिखता है।

कोष–विभाजन में 'मन' संज्ञा को फिर से लीजिये। कोषों में 'मन' एक कोष है, अन्य कोषों से भिन्न, अन्यों के बीच, मन का अपना अलग, और सीमित–परिमित स्थान है। पर 'मन' को, या 'चित्त' कहिये, उसे हम 'अंतः' मात्र के पर्याय के रूप में भी पाते हैं। पर 'चित्त' कहें तो चित्त–वृत्तियों की, चित्त की भूमियों की, बात आगे आती है, और यहां अंतः का आकलन कोषों से भिन्न है। क्योंकि यहां साध्य की एक विशेष दिशा है। चित्ति–वृत्तियों, चित्त–भूमियों की बात अंतः–विषयक एक ऐसी चित्र को सामने रखती हैं, जहां चित्त–रूप अंतः का निरोध ही साध्य है। वास्तव अंतः (जिसे अंतः से परे ही कहा जा सकता है), विशुद्ध चित् है या जिसे दृश्य–हीन द्रष्टा कह सकले हैं। उसे हम अंतः में नहीं रख सकते. चाहे हम अंतः को कितना ही व्यापक बना दें। पर इस दृश्य–हीन, (या दृश्य–विमुख) द्रष्टा में ही हम अपने अंतःसत्य में स्थित होते हैं। कह सकते कि यहां इस चित्र में अंतः के अपने 'वस्तुत्व' का निषेध है, वह चिद्भिन्न जड़ है। अंतः को निरंतः, जड़ कहने की और भी, स्थूल, भौतिक दिशा ली जाती है; उसे भौतिकता का विकार कह कर पंचतत्त्व में ही अपचित कर दिया जाता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पर हम जानते हैं कि जड़, चेतन और इनके बीच अंतः–विषयक दृष्टियों का प्रभूत और चकरा–देता वैविध्य है। पर कितना ही वेविध्य क्यों न हो, कितना ही अनेकांत, कितनी ही अस्पष्टता क्यों न उभरती हो, और चाहे अनिवार्यतः ही ऐसा होता हो, फिर भी अंतः का अंकन हम करते ही हैं, हमारा अंतः का अनुभव बाह्य से कहीं अतल होता है, बाह्य तो हमारे लिये अंतः का एक अन्य–अंतः–सामान्य परिसर भर होता है। अंतः का अंकन करते हुए अंतः में क्षेत्र–भेद और स्तर–भेद भी हम करते ही हैं, चाहे विचार स्तर–भेद की बात को छोटा करने की, उसके निराकरण की दिशा भी लेता हो।

एक आज स्वीकृत सा और सार्थक–सा अंतः–निष्ठ क्षेत्र–भेद या वृत्ति–भेद – है ज्ञान, भाव, और कम। यह भेद स्पष्ट सा, अनुभव में उभरा–सा, लगता है पर यह इसलिये भी है क्योंकि प्रचलित है। पर ये क्षेत्र या वृत्तियां क्या हैं, इनके बीच की रेखाओं का अंकन, इनके संबंध, इनके भीतर प्रकट होते स्तर, इनको उकेरना उतनी ही गुत्थियों में उलझा रहता है, जितनी कोष के चित्र में उभरती हैं। पर साथ ही, अगर विचार में थोड़ी भी गहराई, थोड़ा भी उदार–भाव हो, थोड़ी भी दृष्टि हो तो चित्र की सार्थकता का, उसकी अंकन–समृद्धि के यथात्व का बोध भी विचार से ओझल नहीं रहता। अंतः का हमारा अनुभव एकतान, एकसार, अखण्ड–कुछ का नहीं होता है, चाहे अंतः का ऐसा 'आनंदमय', चिन्मय, वस्तुसन्मय स्तर भी होता हो। यह स्तर अनुभव में जागता पाया ही गया है। पाया ही नहीं गया है, इस रूप में पाया गया है कि वही अंतः का ही नहीं, जगत् का, वस्तु–मात्र का, 'वास्तव' स्वरूप है। इस स्तर को विषय–विषयि भाव से बाहर भी रखा गया है या द्रष्टा–दृश्य भाव से बाहर कहिये।

चित् के या सत् के विषय–विषयी भाव से ऊर्ध्व होने की बात इसलिये संभव है क्योंकि विषय–विषयी भाव में एक स्वभाव–निष्ठ स्वोत्तरण उभरता दीखता है। इसे हमारी साध्यता का बीज भी कह सकते हैं। द्रष्टा भाव संभव ही तब होता है जब चेतना स्वप्रत्यक् होती है अपने पीछे हट कर अपने को देखती है। द्रष्टा विषयी का विषयमुख दृश्यमुख, पराक्–मुख हो कर देखना उसके प्रत्यक्–भाव में प्रतिष्ठित, कीलित, होता है। पर विषयी की यह प्रत्यक्–गति कोई सपाट सी सिद्ध, प्रदत्त, ध्रुव, विषय से हटती हुई दूर–होती–जाती गति नहीं होती, जहां विषय वही रहता है और विषयी उसे देखने के लिये उससे अलग हटता है। विषयी की यह गति विषय को साथ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

लिये प्रत्यक् होती है, क्योंकि विषय विषयीगत होता है, विषयी से अलग नहीं, उससे अविनाभावेन युगनद्ध रहता है। विषयी विषय को आत्मसात् करता हुआ प्रत्यङ्मुख होता है। और यह गति भूमा को जन्म देती, अगाध विस्तार की गति होती है। इसी गति के साथ हमारी जिज्ञासा जागती है, प्रश्न, संशय, प्रमाण, ऊह, कल्पना, प्रज्ञा, जागती है। यह उन्मेष की, सृजन की, गति होती है। नये विषय खुलते दिखते हैं इस गति के साथ; इन विषयों के क्षितिज अपने विस्तार में असीम अनुभूत होते हैं: गणित, विज्ञान, कला, दर्शन, अंतः का स्वरूप, विषय के ये लोक या आयाम उभरते हैं, और हर लोक अपने आप में जिज्ञासा का, अर्थ का, प्रमाण–मीमांसा का, संभावना का, अभूतपूर्वता का (सृजन का) असीम क्षितिज लिये होता है, हमारी जिज्ञासा को भी असीम करता दिखता है।

इस विषय–मुखी, भूमा–की–ओर–बढ़ती गति के साथ ही चेतना में श्रेय–बोध का जन्म होता है। मनुष्य, उसकी, रहनी–करनी ही इसके कारण आत्म–साध्य हो जाती है। पर यहां श्रेय–बोध के भीतर ही एक और गति देखी जा सकती है, जिसे आत्म की ओर समग्रत्वेन एकाग्रभावेन बढ़ती गति कह सकते हैं। या अध्यात्म–प्रवण गति कहा जा सकता है। इस गति में विषयी विषय से सर्वथा हट कर अपनी ओर मुड़ता है। आत्म के कूटस्थ सत् की, स्वरूप की, ओर मुख करता है। इसके सिवा शेष सभी कुछ को वह अनात्म पाता है। पर इस अनात्मता का केन्द्र वह अपने आत्म में ही पाता है : अपने प्रदत्त आत्म को ही वह अनात्म पाता है। कई अध्यात्म–चिंतकों ने इस गति को विषय के ही असत् होने के संकेत के रूप में देखा है। पर सच यह है कि वस्तु–आत्म की ओर मुड़ती अध्यात्म–दृष्टि अनात्म का केन्द्र बाह्य जगत् में नहीं, अपने ही आत्म में पाती है, अपने उस आत्म में जो उसका आत्म–होता–हुआ–भी–अनात्म उभरता है (जिसे हमने विषयि–विषय कहा है)। यह आत्मस्थ अनात्म ही उसके आत्म–सत्य संधान में मुख्य बाधा भी होता है। हमने ऊपर कहा था कि द्रष्टा सहज ही अंतः और बाह्य का अंतर करता है। यहां इस अंतर में यह लक्ष्य यह है कि अध्यात्म–दृष्टि बाह्य को देश–काल स्थित बाह्य को – उस अर्थ में अनात्म नहीं पाती जिस अर्थ में अपने ही प्रदत्त आत्म को पाती है। बाह्य को वह आत्म–इतर पाती है, अनात्म नहीं। हमारा अनात्म बाह्य–स्थित नहीं, हमारे ही अंतः में स्थित होता है! और यहां इस 'बाह्य' में देश–काल स्थित बाह्य को ही नहीं, गणित, कला, दर्शन,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विज्ञान जैसे विषयों को भी सम्मिलित किया जा सकता है, जो अंतः की प्रत्यङ्मुख गति के साथ उन्मीलित होते हैं, जिनकी कल्पना अंतः के बिना की ही नहीं जो सकती, जो अंतः की तरह ही देश–काल के बाहर होते हैं, उस आत्म में, आत्मचेतना में, निष्ठ होते हैं जिसे विज्ञानमय कोष में रखा जा सकता है, या जिसे विचार–चेतना कहा जा सकता है।

पर इस बात की आगे चर्चा का यहां प्रसंग नहीं। अस्तु।

ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग,
श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर-302006

◆◆◆

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पुस्तक-समीक्षा

पश्चिमी सार्वभौमिकता और भारतीयता की आत्मगवेषणा*

अम्बिकादत्त शर्मा

पाश्चात्य सार्वभौमिकता अपने साम्यतिक अभियान में मुक्त–अर्थव्यवस्था और केन्द्रीकृत–उत्पादन प्रणाली के द्वारा एक ऐसे मनोविज्ञान को जन्म दिया है जहाँ मनुष्य एक–आयामी प्राणी **(हरबर्ट मारक्यूजे)** बनकर रह गया है। ऐसा एक–आयामी मनुष्य जो अपने आप में अपनी ही स्वतंत्रता से भयभीत है **(एरिक फ्राम)**। इस मनोविज्ञान ने 'समाज से कटे हुए मनुष्य' की आधारशिला पर जिस समाज एवं राजव्यवस्था का निर्माण किया है उसमें व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक क्षेत्र का भेद ही विलुप्तप्राय **(हन्ना एरेण्ट)** होता जा रहा है। परिणाम स्वरूप मनुष्य की दोहनात्मक क्षमता जनित उपभोग की लिप्सा ने उसके जीवन में साहचर्यमूलक उद्यम जनित आनन्द **(सी.बी. मैक्फर्सन)** को आक्रान्त कर दिया है। ऐसी स्थिति में आज का मनुष्य, वास्तव में, वह नहीं है जो वह होना चाहता है, बल्कि वह वैसा हो गया है जैसा कि वह अपने बाह्यतामूलक चयन के कारण पहचाना जाता है **(जे.पी. सात्रे)**। फिर भी बिडम्बना यह है कि आज भी सबके लिए समान स्वतंत्रता के मूल्य **(जॉन रॉल्स)** की प्रतिष्ठा में ही मानव–जाति के कल्याण के सूत्र खोजे जा रहे हैं। कदाचित् यह विचार किये बगैर कि स्वतंत्रता जिसके लिए उपभोग्य है वह मानव वस्त्वर्थी उपभोक्ता के अतिरिक्त कुछ और है भी या नहीं।

पश्चिमी सभ्यता के दिग्विजयी अभियान में उसके अन्दर से ही उठने वाले ऐसे अनेकों प्रश्न निश्चित रूप से आनुभविक धरातल के प्रश्न नहीं हैं, बल्कि इन प्रश्नों का सम्बन्ध हरमेन्युटिक (अस्तित्वात्मक) प्रश्नों (हन्ना

***विभिन्नता :** *पाश्चात्य सार्वभौमिकता को भारतीय चुनौती, राजीव मल्होत्रा, हिन्दी अनुवाद, देवेन्द्र सिंह, हार्पर कॉलिंस, इंडिया, 2013, मूल्य 299/–*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

एरेण्ट) से है। परन्तु यह भी एक कैसी दुस्साध्य विडम्बना है कि मानव–ज़ीवन के व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक क्षेत्र का सिमटता हुआ अन्तर तथा रचनात्मकता एवं क्रियाशीलता का संकुचित होता हुआ क्षेत्र मानव–मस्तिष्क को आनुभविक प्रश्नों के इर्द–गीर्द ही विचार करने को विवश करता जा रहा है। शायंद ही आज का विचारशील मनुष्य इस विवशता को पहचान कर आत्मचेतन रूप से हरमेन्युटिक प्रश्नों का सामना करने की स्थिति में अपने को पाता हो। इस कारण मानो आज अन्तर–साम्यतिक संवाद और अन्तर–साम्यतिक समझदारी की असली जमीन ही खिसक कर आनुभविक प्रश्नों की शिला पर अटक कर रह गई है। अनुभवमूलक प्रश्नों की परिधि के भीतर से जन्म लेने वाले चिन्तन में विमर्श के बाह्य–भेदमूलक पक्ष की बड़ी ही तथ्यपरक मीमांसा आज अनेकों ख्यातनामा विचारकों के चिन्तन में देखने को मिलती है। उदाहरण के तौर पर विगत शताब्दी के आठवें दशक में 'ओरियेण्टलिज्म' **(एडवर्ड सईद)** एक प्रभावशाली रचना के रूप में सामने आई, जिसमें लेखक ने पश्चिम एवं पूर्व के उस समीकरण को उजागर किया है जहाँ पश्चिम ने पूर्व को अपने प्रतिकूल प्रतिमान के रूप में गढ़ने का प्रयास किया। **राजीव मल्होत्रा** की सम्प्रति चर्चित पुस्तक **'विभिन्नता'** जो उनके द्वारा **'बींग डिफरेंट'** शीर्षक से लिखी गई पुस्तक का **देवेन्द्र सिंह** कृत हिन्दी अनुवाद है वह भी पूरब और पश्चिम के एक नये समीकरण को उजागर करती हुई प्रतीत होती हैं। इस समीकरण को पश्चिम द्वारा प्राधिकृत पूर्व के प्रतिरोध का प्रतिमान कहा जा सकता है। राजीव मल्होत्रा प्राक्कथन में ही इस प्रतिरोधी प्रतिमान को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "मैं केवल भारतीय धार्मिक परिदृश्य का उपयोग करते हुए उस विश्लेषणात्मक अवलोकन को उलट देना चाहता हूँ जो प्रायः पश्चिम से पूर्व की ओर केन्द्रित है और अनजाने में पश्चिम को विशेषाधिकार प्रदान करता है। उसे उलटने से पश्चिमी सभ्यताओं का मूल्याँकन एक विशिष्ट तरीके से सम्भव हुआ है, जिसके द्वारा पश्चिम के कुछ अनदेखे पहलु उजागर हुए हैं। इससे यह देखने में आया है कि भारतीय धार्मिक संस्कृतियाँ कई समस्याओं का जिनका सामना आज विश्व कर रहा है, सुलझाने में और कम करने में कैसे योगदान कर सकती हैं।" राजीव ज़ी के इस दावे से प्रथम दृष्टया ऐसा प्रतीत हो सकता है कि उनके इस प्रतिरोधी प्रतिमान में आधुनिक पश्चिमी सभ्यता के हरमेन्युटिक प्रश्नों के समाधान के नायाब सूत्र निहित हैं, लेकिन वास्तविकता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यह है कि भेदमूलकता पर आधारित होने के कारण इस प्रकार के चिन्तन द्वारा कोई भी विचारक अपने उस व्यक्तिगत अथवा जातीय–जीवन के क्षेत्र एवं पहचान को खोजने में उलझ जाता है जो सार्वजनिक जीवन के प्रबल आच्छादन में खो सा गया है। ऐसे प्रयासों से अन्ततः उसके हाँथ कुछ भी नहीं लगता; क्योंकि जिस भूमण्डलीकृत समाज में वह अकुलाहट और व्याकुलता के साथ जी रहा होता है वह एक विश्वव्यापी तंत्र के दबाव में निरन्तर बदलता जा रहा होता है। अतः प्रतिरोधी प्रतिमान का पूर्वपक्ष ही यदि बदल रहा हो तो उसके बरक्स किसी प्रतिमान को स्थिर ही भला कैसे किया जा सकता है ? अलबत्ता इस बदलाव में जो नहीं बदल रहा होता है, वह है मनुष्य का उपभोक्ता स्वरूप। परन्तु उसके लिए भी कल क्या उपभोग्य है और क्या होना चाहिए, यह निर्धारित करने में भी वह सक्षम नहीं रह गया है। इसपर त्रासदी यह है कि मानवीय क्षमता को परिभाषित करने एवं उसे सर्वमान्य रूप में विकसित करने की जिम्मेवारी भी उसी विश्वव्यापी तंत्र की है जिसको सर्वाधिक लाभ उस मानव से है जो मात्र उपभोक्ता और संवेदना का पुंज मात्र हो। यदि नहीं है तो वैसा उसे बनाये जाने के लिए भी कोई कोर–कसर नहीं छोड़ी जायेगी। इस स्थिति में अन्तर–साभ्यतिक, अन्तर–धार्मिक और अन्तर–सामुदायिक समझ और सौहार्द को तलाशने हेतु किये जाने वाले अकादमिक प्रयास क्या वास्तव में सार्वभौम पश्चिम से जुड़े हरमेन्युटिक (अस्तित्वात्मक) प्रश्नों का समाधान इस रूप में ढूँढ पा रहे हैं जो सभ्यताओं, धार्मिक परम्पराओं की विभिन्नता को अक्षत रखते हुए उन्हें **'विश्वयारी'** का समान भागीदार होने का अवसर प्रदान कर सके।

उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में यदि राजीव मल्होत्रा की कृति **'विभिन्नता'** का मूल्यॉंकन किया जाय तो कहा जा सकता है कि राजीव जी असली समस्या को नजरन्दाज कर देते हैं। संक्षेप में वास्तविक समस्या यह है कि आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता अपने व्यापक अर्थों एवं स्वकीय विकास की सम्पूर्ण निष्पत्तियों के साथ आज एक बलीयसी 'विश्वसभ्यता' का रूप अख़्तियार कर लिया है। आताल से पाताल तक फैल रही इस विश्वसभ्यता में दुनियाँ की तमाम सभ्यतायें और संस्कृतियाँ तथा धार्मिक परम्परायें अपनी जीवन दृष्टि और जातीय अस्मिताओं को मिटाते हुए मानो इस तरह उसमें समाती जा रही हैं जैसे **'ब्लैक होल'** में सबकुछ अपनी इयत्ता और पहचान को समाप्त कर विलीन हो जाया करते हैं। इतना ही नहीं, आज यंत्र, उद्योग

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

और अर्थव्यवस्था के जिस स्वरूप को सार्वभौमिक स्वीकृति प्राप्त हो गई है उसने न केवल गैर–पश्चिमी 'धर्म' को बल्कि पश्चिमी 'रिलिजन' को भी अपना अनुगामी बना लिया है। ऐसे में महज व्युत्पत्तिक, शाब्दिक और व्याकरणिक तथा कतिपय अतीत के अनुभवों के आधार पर यह बताना कि 'धर्म' व्यापक और विराट प्रत्यय है तथा इसकी तुलना में 'रिलिजन' न्यून एवं संकुचित है, वास्तविक समस्या का वास्तविक समाधान नहीं कहा जा सकता। राजीव जी ने वस्तुतः इस पुस्तक के विभिन्न अध्यायों जैसे **'दुस्साहस भिन्नता का', 'योग–इतिहास से मुक्ति,' 'कृत्रिम एकता एवं समग्र एकता', 'व्यवस्था और अव्यवस्था', पश्चिमी सार्वभौमिकता से मुकाबला** तथा **इतिहास–केन्द्रिकता** और **सन्निहित एकता** जैसी अवधारणाओं के द्वारा धर्म का महिमामण्डन और रिलिजन का मान विडम्बन ही दिखाया है। पहले के तीन अध्यायों में आक्रामक तरीके से पश्चिम की इतिहास–केन्द्रिकता और उसके भीतर से उपजी विभाजित और द्वैतवादी विश्वदृष्टि को जोड़–तोड़ कर एकसूत्रित किये जाने के ऐतिहासिक जद्दोजहाद की तफसील करते हुए यह दिखाया गया है कि किस तरह यह बलात् कृत एकता अपने गुण–सूत्रों में ही कृत्रिम और इसतरह अस्थायी है। इसके ठीक विपरीत भारतीय दर्शन एवं धार्मिक परम्पराओं में ब्रह्माण्ड की अखण्ड एकता की अवधारणा मत–मतान्तरों की बहुलता के साथ अधिक मूलगामी एवं परस्पर तनाव–मुक्त दृष्टिकोण निभाती आई है। चौथे अध्याय में पश्चिमी आलोचकों द्वारा भारतीय जीवन–पद्धति पर अव्यवस्था एवं अराजकता के आरोप का प्रत्याख्यान करते हुए दिखाया गया है कि तथाकथित अव्यवस्था और व्यवस्था के प्रति पश्चिमी सोच भारतीय धार्मिक दृष्टिकोण से कितना और किस प्रकार भिन्न है। पश्चिम की साभ्यतिक ज्ञानमीमांसा 'आइदर–ऑर' के द्वैराश्यपूर्ण मताग्रह से परिचालित होती है, अतएव कुछ या तो अच्छा या फिर बुरा ही हो सकता है लेकिन भारतीय दृष्टि 'मध्यम परिहार' से संचालित न होकर अनन्तता के तर्क (श्री अरविन्द) स्वीकार करती है जहाँ सत्य – असत्य, शुभ–अशुभ का अन्तहीन व्यावर्त्तक द्वैधिकरण नहीं है। पाँचवें अध्याय में पूर्वी एवं पश्चिमी परम्परा की आपसी भिन्नता को बताने के लिए दोनों परम्पराओं की अवधारणात्मक भाषिक पदावली किस प्रकार अपनी अवधारणात्मक योजनाओं में अरूपान्तरणीय हैं, यह बताया गया है। इस पुस्तक का छठा अध्याय अकादमिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है जो पश्चिम

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के असाधारण होने के दम्भ का प्रमाणपुष्ट ढंग से खुलासा करता है। एतदर्थ हेगल द्वारा पश्चिम के इतिहास–केन्द्रिक ढाँचे का पुनर्नवीकरण कितना दुराग्रहपूर्ण है, इसे **'हेगल का पश्चिमी मिथक'** शीर्षक से विवेचित किया गया है। इस तरह राजीव जी भी इब्राहिमी पश्चिम की प्रतिक्रिया में एक और वैदिक पश्चिम गढ़ने का प्रयास करते दिखाई देते हैं। यदि भारतीय धर्मबोध और उसका साभ्यतिक रूपायण विभिन्न सभ्यताओं के बीच सचमुच महनीय है तो कोई जरूरी नहीं कि उसकी आत्मप्रतिमा और मौलिक प्रतीक किसी दूसरे की प्रतिक्रिया में अपने को परिभाषित करें।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि राजीव मल्होत्रा की महत्त्वाकाँक्षी कृति 'विभिन्नता' एक ऐसी रचना है जो खीस्तीय 'रिलिजन' और सनातनी 'धर्म' के आनुभविक एवं बाह्यपक्षीय प्रश्नों के विश्लेषण पर खड़ी होती है और दोनों की मूल्याँकनपरक तुलना करते हुए आधुनिक पश्चिमी सभ्यता के हरमेन्युटिक (अस्तित्वगत) प्रश्नों के समाधान का दावा करती है। यही इस पुस्तक की सबसे बड़ी अच्छाई या कहें सबसे बड़ी कमी भी है। अच्छाई इस अर्थ में कि राजीव जी ने बड़े साहस के साथ पाश्चात्य और भारतीय सभ्यता के निहितार्थों एवं निष्पत्तियों को क्रमशः न केवल 'रिलिजन' और 'धर्म' केन्द्रित बल्कि उन्हीं से अद्यतन निर्धारित रूप में व्याख्यायित किया है। पुनः कमी इस अर्थ में कि 'रिलिजन' और 'धर्म' से सम्बन्धित प्रश्नों एवं उनके उत्तरों को जब हम उनके सांस्कृतिक–साभ्यतिक सन्दर्भ में देखते हैं तो उन्हें एकरेखीय विश्लेषण का विषय नहीं बनाया जा सकता, जबकि राजीव जी ने इन दोनों के बहुस्तरीय एवं बहुध्रुवीय कलेवर को अपने विवेचन से बहिष्कृत ही रखा है। 'रिलिजन' और 'धर्म' के ऐतिहासिक विकास और साभ्यतिक रूपायण की दीर्घकालिक प्रक्रिया को बहुस्तरीय एवं बहुध्रुवीय कहने का आशय यह है कि इन दोनों अवधारणाओं में आज के समय तक मूर्त–अर्मूत रूप में जो कुछ भी समायोजित हो चुका है, उसमें नीर–क्षीर विवेक से यह बता पाना कठिन है कि उसमें क्या मौलिक है और क्या कुछ काल–क्रम में बाहरी तौर पर अवाप्त किया हुआ है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि धर्म, अध्यात्म, रिलिजन, नैतिकता और साम्प्रदायिकता इत्यादि से जुड़े मुद्दे युगधर्म को आत्मसात् करते हुए देश–काल सापेक्ष होते हैं। उदाहरण के लिए बाइबिल यद्यपि मनुष्य को अपने पक्ष में सम्पूर्ण प्रकृति के उपयोग की छूट देता है, परन्तु इस धार्मिक अनुमोदन के आधार पर यह तो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

नहीं कहा जा सकता कि यही धार्मिक दृष्टि प्रकृति के वर्तमान अराजक विदोहन के लिए जिम्मेवार है, जबतक कि विज्ञान एवं तकनीक का उसे बाहर से समर्थन न प्राप्त हो। इसी तरह भारतीय धर्मदृष्टि अपने स्वरूप पक्ष में अद्वैतवादी है, लेकिन अपने अभिव्यक्ति पक्ष में पता नहीं जाति–पांति छुआ–छूत जैसे कितने भेदभावों को कालक्रम में अवाप्त भी किया है, तो कभी उनके विरोध की प्रबल आत्मचेतना भी दिखाई है। अतः इन प्रत्यनों में ऐसा लचिलापन न हो तो इनका बहुआयामी विकास सम्भव ही नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त 'रिलिजन' और 'धर्म' दोनों ही मनुष्य का मनुष्य से, समाज से, प्राकृतिक जगत् से और अपने आप से सम्बन्धों के स्वरूप एवं औचित्य का निर्धारण भी करते हैं। दोनों ही मनुष्य में निहित पवित्रता, अमरता एवं व्यापकता जैसी पर्येषणाओं को प्रस्फुटित करने के माध्यम भी बनते हैं। परन्तु इन सबके बावजूद 'रिलिजन और 'धर्म' दोनों ही अपने–अपने तरीके से वैभव, प्रसार, प्रतिष्ठा, वर्चस्व और प्राधिकार प्राप्त करने तथा इन सबों के द्वारा स्वयं के आत्मविस्तार का उपक्रम भी साधते हैं। अतः इन दोनों अवधारणाओं को बहुकेन्द्रीय एवं बहुआयामी प्रक्रिया में देखना ही अधिक सुसंगत है, जबकि 'विभिन्नता' के लेखक ने इन्हें एकबारगी एकरेखीय मानकर पाश्चात्य सभ्यता और भारतीय सभ्यता को 'रिलिजन' तथा 'धर्म' का ही आत्मविस्तार माना है। ऐसी दृष्टि किसी धर्मभीरू मानस को भले अच्छा लगे और इस प्रकार का तुलनात्मक मूल्याँकन भले धार्मिक परम्पराओं को अपने अन्दर झाँकने के लिए कदाचित् उद्वेलित करे लेकिन तुलनात्मक धर्म और तुलनात्मक साभ्यतिक अध्ययन की दृष्टि से ऐसे प्रयासों की अकादमिक मूल्यवत्ता प्रश्नांकित ही बनी रहती है।'

इस पुस्तक में भारतीय धर्मबोध और तन्मूलक सभ्यता का महिमामण्डन करने के लिए राजीव जी ने जिस 'पश्चिम' को पूर्वपक्ष बनाया है, उस पश्चिम की अवधारणात्मक योजना पूरे तौर से स्पष्ट नहीं हो पाई है। एक संवेदनशील पाठक कभी यहुदी–क्रिश्चियन परम्परा में पश्चिम को टटोलता है तो कभी आधुनिक विज्ञान और तकनीकी के द्वारा निर्मित आधुनिक सभ्यता में सार्वभौम पश्चिम का प्रतिमान ढूँढता है। इस सन्दर्भ में एक दृष्टि यह है कि विज्ञान, तकनीक, यंत्र, उद्योग और अर्थव्यवस्था के जिस स्वरूप को लेकर पश्चिमी सार्वभौमिकता का दावा किया जाता है उसका जन्म उस ईसाईयत के गर्भ से हुआ है जहाँ 'रिलिजन' के नाम पर होने वाली बर्बरता से त्रस्त

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA).

मानव ने लौकिक जीवन में ही अपना अन्तिम कल्याण खोजा और लोकोत्तर जीवन–दृष्टि का तिस्कार करते हुए **'सेक्युलर विश्वदृष्टि'** को आत्मसात् किया। दूसरी दृष्टि जो अधिक व्यापक है वह यह कि 'आधुनिक पश्चिम' विज्ञान और ईसाईयत के मेल–जोल से बना है। राजीव जी का वास्तविक पूर्वपक्ष यही पश्चिम है लेकिन वे इसकी रूपरेखा स्पष्ट नहीं करते। यद्यपि उन्हें इस पश्चिम के बनावट का उपरीतौर पर बोध है जिसे वे अपनी शब्दावली में इतिहास केन्द्रिकता, कृत्रिम एकता, **टेम्पलटन योजना** और हेगेलीय मिथक के नाम से बार–बार दुहराते हैं, परन्तु यह सबकुछ ईसाईधर्म और आधुनिक विज्ञान के ऐतिहासिक गठबन्धन को स्पष्ट किये बिना एक मध्यपाती विवेचना बनकर ही रह जाती है।

इस आधुनिक पश्चिम के इतिहास और सम्भवन पर एक सिलसिलेवार दृष्टि डाली जाय तो कहा जा सकता है **(विलियम मैकनील)** कि पाँच सौ ईसा पूर्व से पन्द्रह सौ ईसवी तक दुनियाँ में सभ्य जीवन के किसी एक केन्द्र का प्राधान्य नहीं था। प्राचीन कही जाने वाली दुनियाँ में जो चार विशिष्ट जीवन शैलियाँ पाँच सौ ईसापूर्व तक विकसित हो चुकी थीं (मध्यपूर्व, भारत, यूनान और चीन) वे मोटे तौर पर एक दूसरे के हमवजन थीं। इनमें से प्रत्येक ने दो हजार वर्षों तक अपनी–अपनी स्वायत्तता को बनाये रखा। पन्द्रह सौ ईसवी के बाद सभ्यताओं का यह चौहरा सन्तुलन डगमगाने लगा **(जे.एल. मेहता)**। यूरोप की बढ़ती हुई शक्ति और समृद्धि से मध्यपूर्व, भारत और चीन की जीवन शैलियाँ प्रभावित होने लगीं। सत्रह सौ ईसवी तक यह स्पष्ट हो गया था कि पश्चिम का पलड़ा इस दृष्टि से भारी पड़ रहा हैं, फिर भी तीनों की संस्कृति पर कोई गम्भीर चोट नहीं आई और न ही किसी प्रकार के खतरे का किसी को अनुभव हुआ। परंतु सन् सत्रह सौ और अठारह सौ की अवधि में यूरोपीय शक्ति का प्रभुत्व औरों के तन पर बढ़ता रहा पर उनके मन पर विशेष प्रभाव नहीं डाला। सन् अठारह सौ पचास के बाद प्राचीन सभ्यताओं का यह चौहरा सांस्कृतिक संतुलन पूरे तौर से नष्ट हो गया। पश्चिमोत्तर लोगों की परम्परागत जीवन और विचार शैली विघटित होने लगी। पश्चिम में भी यद्यपि सांस्कृतिक संकट की अनुभूति हुई लेकिन इससे उसके सर्वव्यापी बौद्धिक प्रभुत्व पर कोई असर पड़ता नहीं दिखा। ऐसा लगने लगा कि पूरी दुनियाँ में एक नई ऐतिहासिक दृष्टि से अभूतपूर्व सार्वभौम चेतना का उदय हो रहा है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यही वह सार्वभौम चेतना है जिसे एक ओर आधुनिकता की **'सेक्युलरायजेशन ऑफ वर्ल्ड'** की एक बृहद् कार्ययोजना के रूप में देखा जाता है तो दूसरी ओर इसे क्रिश्चियनिटी का विश्वविजय भी माना जाता है। यहूदी–क्रिश्चियन परम्परा की प्रमुख मान्यताओं में एक दुनियाँ को पूरे तौर से लौकिकीकरण की ओर ले जाना है। इसी में वे धार्मिक भावना का उत्कर्ष देखते हैं। यहाँ एक बात जो महत्त्वपूर्ण है वह यह कि क्रिश्चियन एकेश्वरवाद को आधुनिक विज्ञान के उदय का आधार बताया जाता है और देखने लायक बात यह है कि आधुनिक विश्वसभ्यता के रचनात्मक तत्त्वों में क्रिश्चियनिटी का प्रच्छन्न योगदान व्यापक रूप से हुआ है। आधुनिक सभ्यता के नाम पर सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, विधिक एवं चिकित्सीय व्यवस्थाओं के जिन प्रत्ययों को तटस्थ एवं सार्वभौम मानकर स्वीकार कर लिया जाता है, वे सभी मौलिक रूप से क्रिश्चियन विश्वदृष्टि से उत्पन्न और उसी के अन्तर्गत के प्रत्यय हैं। मानवीय सभ्यता के इतिहास में घटित हुए इस अभूतपूर्व समायोजन का बाईबिलीय उत्स सम्भवतः **ओल्ड टेस्टामेंट** के **'सृष्टि'** शीर्षक आद्य ग्रंथ की दो व्याख्याओं में है। प्रथम व्याख्या के अनुसार यह आदम (मनुष्य) के पतन की आख्यायिका है और दूसरे के अनुसार पतन से पूर्व मानव सरल चेतना सम्पन्न प्राणी था। पशुओं की तरह पाप–पुण्य, लज्जा–सम्मान इत्यादि से शून्य। इस अवस्था से वह आत्मचेतना की ओर अग्रसर हुआ। तब उसकी आँखें खुली। उसमें अपनी नग्नता, पशुप्रायता का भान हुआ। उसमें लज्जा का, पाप–पुण्य का, अच्छे बुरे की चेतना जाग्रत हुई और अन्ततः उसे परिश्रम करके जीविका चलाने और सभ्यता की प्राणप्रतिष्ठा करने को बाध्य होना पड़ा। यह दूसरी व्याख्या मानव के पतन की नहीं बल्कि उसकी स्वायत्तता, प्रगति और उत्कर्ष की कहानी है। यह कहानी आधुनिकता की मूल प्रवृत्ति की 'जेनेशिस' है, क्योंकि आत्मचेतना का विकास ही आधुनिकता के विकास का मानदण्ड है। हेगेल जिसे आधुनिकता और यूरोकेन्द्रित विश्वदृष्टि का मूर्धाभिषिक्त प्रवक्ता माना जाता है, वह भी यूरोप को विशेषाधिकार और शीर्षता 'आत्मचेतना' की उच्चतम अवस्था के रूप में ही देता है। अतः यह कहा जा सकता है कि आधुनिक पश्चिम अपनी मूल आकृति में स्वायत्त और सार्वभौम बुद्धि की आधारशिला पर विज्ञान, तकनीक एवं प्रोटेस्टेंट क्रिश्चियन विश्वदृष्टि का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

एक ऐसा गठबन्धन है जिसने आज एक विश्वसभ्यता, सभ्यता का सार्वभौम आकार ग्रहण कर लिया है। पूरे विश्व को अपने इस लौकिकीकृत विश्वदृष्टि में समाहित कर लेना इसका विश्वव्यापी मिशन है।

वस्तुतः राजीव मल्होत्रा की पुस्तक में किये गये तुलनात्मक विमर्शों की यही वास्तविक जमीन है। यहीं से पाश्चात्य सार्वभौमिकता को भारतीय चुनौती अर्थात् पश्चिम विरोधी भारत का साभ्यतिक प्रतिमान गढ़ने का उपक्रम साधा जा सकता है। यही वह जमीन है जहाँ वैज्ञानिक पश्चिम का धार्मिक चेहरा सामने आता है। यही वह पश्चिम है जो राजीव जी के अनुसार बन्धु समरूपता के बदले उपरी समरूपता, आत्मसात् करने के बदले इनकल्चरेशन द्वारा हड़प लेना, म्युच्युअल रिस्पेक्ट के बदले म्युच्युअल टालरेन्स, सर्वधर्म समभाव के बदले धर्मनिरपेक्षता की दोहरी नीति की भाषा बोलता है। ईसाईयत की ऐसी साभ्यतिक राजनीति की शुरूआत तो तब से ही हो गई थी जब **कान्सटेन्टाइन** के समय में यह राजधर्म बना था। तब से इसने सैकड़ों अपने देशज धार्मिक प्रणालियों को तो टालरेट कर ही नहीं पाया बल्कि उन्हें विनष्ट ही कर दिया। अतः ऐसे धर्म से दूसरे धर्म के प्रति टालरेन्स की भी अपेक्षा नहीं की जा सकती है। म्युच्युअल रिसपेक्ट तो बहुत दूर की बात है। प्रकारान्तर से इस प्रकार के आक्षेप सनातन धर्म के शास्त्रीय और महान परम्परा तथा देशज एवं लघु परम्परा के अन्तर के आधार पर भी कुछ भोथरे तर्कों के द्वारा लगाये जाते हैं। परन्तु इस दोषारोपण में जिस तथ्य को नजरन्दाज कर दिया जाता है वह है – परिमार्जन, अनुकूलन, सात्मीकरण, संस्कृतिकरण और सातत्य। इन पाँचों के प्रकार्यात्मक अन्तःसम्बन्ध ने सनातन धर्म और संस्कृति को जो जीवन्तता और तादात्म्य बोधकता प्रदान किया है वह ईसाईयत में कभी थी ही नहीं। अतः पश्चिमी विचारक एवं धर्ममीमांसक जिनके लिए एक ईश्वर, एक धर्मग्रंथ एवं एक पूजा की पद्धति का समीकरण धर्म को परिभाषित करता है, वे भारत की महान परम्परा एवं लघु परम्परा के मध्य अनुस्युत एकता को समझ ही नहीं पाते हैं। उनके लिए तो जितने विश्वास, ईश्वर, पूजा–पद्धति एवं धर्म की पुस्तकें होगीं, उतने ही पृथक्–पृथक् धर्मों का अस्तित्व होगा। जबकि सनातन परम्परा में यह सब कुछ एक 'कुल' की भाँति है। यह बात अलग है कि आज की स्थिति में यह कुलकता आधुनिकता एवं हितपरक राजनीति के कारण किंचित् विद्रूप हो रही है और अपने पृथक् अस्तित्व की राजनीतिक–रणनीति के तहत स्वतंत्र

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पहचान के लिए आन्दोलित भी है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि अनेक अनुभवों में ऐसे समूहों को उस पददलन का शिकार भी होना पड़ता है जो वास्तव में इनके पश्चिमी पैरोकारों की रणनीति का ही हिस्सा हुआ करता है। **राजीव मल्होत्रा** ने इस प्रकार के साभ्यतिक षड़यंत्रों का खुलासा अपनी दूसरी पुस्तक **'ब्रेकिंग इंडिया'** में विस्तार से किया है। पश्चिमी संस्थाओं के द्वारा दक्षिण भारत में **'एफ्रो दलित प्रोजेक्ट'** चलाया जाना इसका ज्वलंत उदाहरण है। इस प्रोजेक्ट के माध्यम से भारत में दलित समस्या को जातीय–नश्लीय अस्मिता की समस्या में रूपांतरित करने के अनेकविध प्रयास किये जा रहे हैं।

सनातन धर्म का अभूतपूर्व वैशिष्ट्य यह है कि इसमें जीववाद, जीवित सत्तावाद, मानावाद, बहुदेववाद, एकेश्वरवाद, सविकल्पक उपासना–पद्धति, निर्विकल्पक उपासना–पद्धति, ईश्वर प्राप्ति के ज्ञान, भक्ति एवं कर्म मार्ग, ईश्वर की स्वजन के रूप में उपासना, जगत् के स्वामी के रूप में उपासना और जगत् के मूलकारण के रूप में उपासना आदि–आदि बिना किसी टकराहट के सकलता के साथ समाविष्ट हैं। इसी कारण सनातन परम्परा में पूजा एवं विश्वास की पद्धति आरोपित एवं रूढ़ हुई एकरूपता नहीं है। फलतः सामी परम्परा के विश्लेषक को सनातन परम्परा में कर्मकाण्ड एवं बाह्य आडम्बर का बाहुल्य ही दिखाई पड़ता है। वास्तव में जबकि सनातनी पूजा–पद्धति व्यक्ति को अपनी चेतना और संस्कार के समायोजन के आधार पर उसके लिए जो कुछ भी श्रेय और प्रेय है, यहाँ तक कि जो त्याज्य है वह ईश्वर से मांगने तथा उसे अर्पित करने का अवकाश प्रदान करती है। यहाँ पूजा–पद्धतियों का मानकीकरण और उपर से आरोपण नहीं है। इसी कारण यदि कोई निष्पक्ष प्रेक्षक सनातन परम्परा के अनुगामियों के धार्मिक जीवन और उसके विकास को देखने की कोशिश करे तो वह पायेगा कि व्यक्ति की अवस्था एवं चेतना के उत्तरोत्तर विकास के क्रम में उसकी पूजा–पद्धति में बदलाव होता है। यह बदलाव अन्ततः उस ब्रह्माण्डीय चेतना की अनुभूति की ओर होता है जिसका अभिन्न अंश वह स्वयं और यह ब्रह्माण्ड है और जो अपने सम्पूर्ण स्वरूप में ईश्वरीय चेतना के ही विविध स्वरूप हैं। इसके उलट ईसाई परम्परा में व्यक्ति की चेतना, ब्रह्माण्डीय चेतना एवं ईश्वरीय चेतना के मध्य न तो कोई सेतु है और न ही इन चेतनाओं से व्यक्ति के साक्षात्कार की कोई प्रणाली है। राजीव जी इसी को बहुविध

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

निष्पत्तियों के साथ **'इतिहास केन्द्रीयता'** कहा है। सचमुच इस इतिहास केन्द्रीयता की कैसी विडम्बना है कि इस परम्परा के ग्रंथ, संस्थायें, बाह्य प्रतीक इत्यादि किसी प्राकृतिक आपदा के वश मिट जाँय तो उनका पुनर्निर्माण नहीं हो सकता। हाँ, ईश्वर चाहे तो इनका पुनर्निमाण नये सिरे से कर सकता है। जबकि सनातन परम्परा में योग, ध्यान इत्यादि के द्वारा चेतना के उच्चस्तर पर आरूढ़ होकर यह सब कुछ साक्षात्कार योग्य हैं। अतः निष्कर्षात्मक रूप से यह कहना उचित होगा कि सनातनी मन और उसकी साधना–पद्धति उर्ध्वमुखी रूप से विकसित होने के कारण सोपानक्रम से विभेदों को नकारती हुई उस एकत्व की अनुभूति की ओर उत्तरोत्तर आरोहण करती है जिसे राजीव मल्होत्रा ने उचित ही 'सन्निहित एकता' के प्रतिमान से अभिहित किया है।

वस्तुतः इस पुस्तक में बहुत सी अतिरंजनाओं के बावजूद कम से कम **'सन्निहित एकता'** और **'इतिहास केन्द्रिकता'** दो ऐसी व्यापक अवधारणाओं को पुनर्गठित किया गया है जो पूर्वी एवं पश्चिमी धर्मबोध और तन्मूलक दोनों के साम्यतिक दृष्टिकोण का द्वैराश्यात्मक तुलनात्मक अध्ययन के लिए व्यापक आधार प्रदान करती हैं। भारतीय धर्म एवं दार्शनिक परम्पराओं की शास्त्रीय शब्दावलियों में **'सन्निहित एकता'** की आत्मगवेषणा बहुविध रूप से और मुखर रूप से प्राप्त होती है लेकिन राजीव जी ने अपने इन नवीन पदावलियों के द्वारा उस विचार को आधुनिक मानस के लिए संबोध्य बनाया है। साथ ही साथ पश्चिम की 'इतिहास केन्द्रिकता' जिसकी परिणति वे **'कृत्रिम एकता'** में दिखाते हैं, वह पश्चिम की परम्परा में अन्तर्निहित तो है लेकिन उसे मुखर रूप से आलोचित नहीं किया गया है। अतः राजीव जी ने इस पुस्तक के माध्यम से पश्चिम के अनालोचित पक्ष को आलोचित कर उसे समझने का एक नया ही प्रतिमान प्रस्तुत किया है।

दर्शन विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर (म.प्र.) 470003

◆◆◆

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ISSN 0974 0053

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection.